ISSN 2349-1906

# साहित्य यात्रा

वर्ष 1 अंक 1 जनवरी दिसम्बर 2014

साहित्यिक सांस्कृतिक यात्रा की शुरुआत

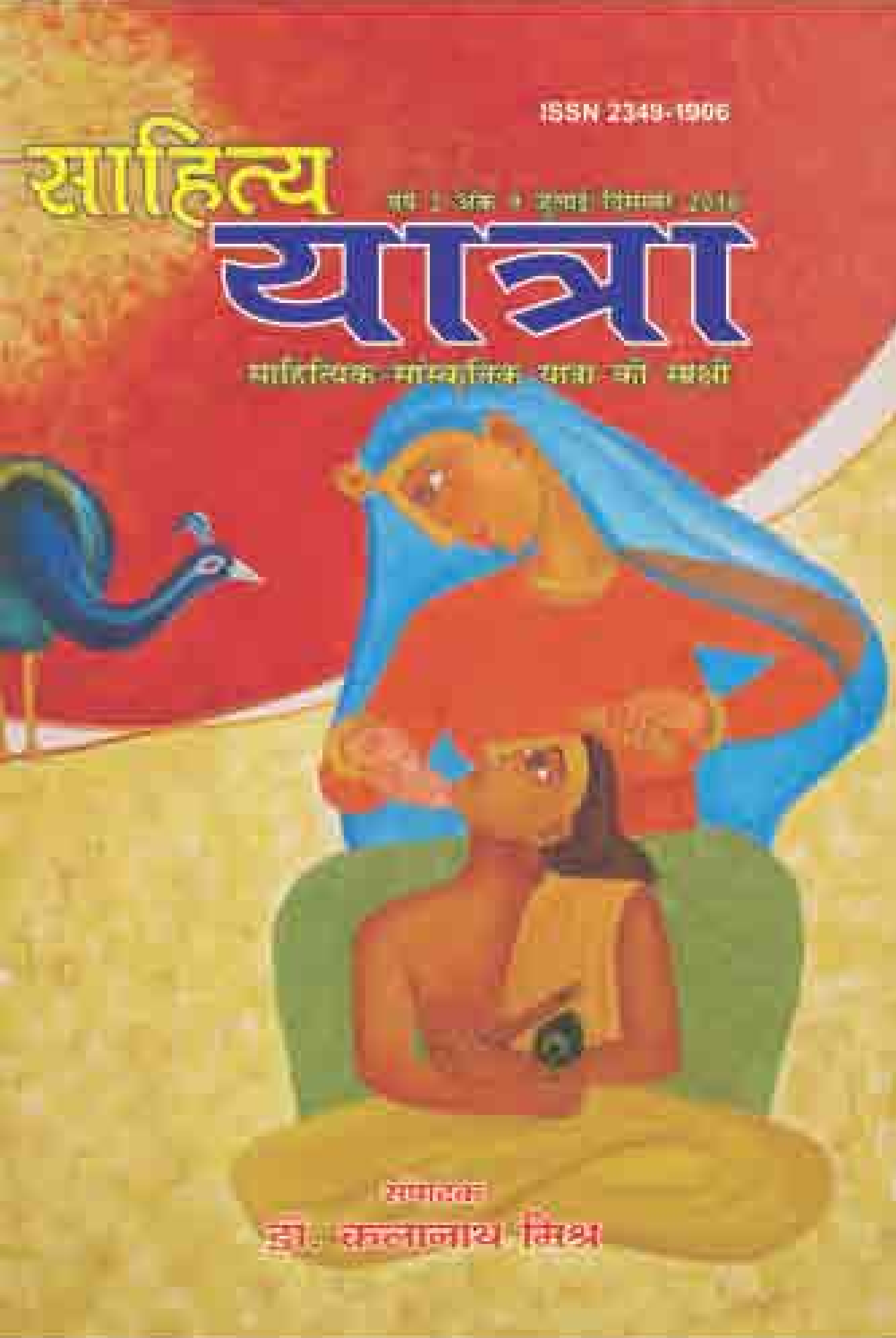

संपादक
डॉ. कल्पनाथ मिश्र

# साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

संपादक
डॉ॰ कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा
साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

**संपादक**
**साहित्य यात्रा**

प्रिय महोदय,
'साहित्य यात्रा' के

| | | |
|---|---|---|
| एक वर्ष (4अंक) | : | 300 /- (डाक खर्च सहित) |
| तीन वर्ष (12 अंक) | : | 750 /- (डाक खर्च सहित) |
| संस्थागत मूल्य (3 वर्ष) | : | 1100 /- |
| आजीवन सदस्यता | : | 11000 /- |
| विदेश के लिए (3 वर्ष) | : | $ 60 डॉलर |

(*पटना के बाहर का चेक पर कृपया बैंक कमीशन के 40/- रुपये उसमें अतिरिक्त जोड़ दें।*)

उक्त दर के अनुरूप मैं चेक / ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे ग्राहक बना कर मेरी प्रति निम्न पते पर भिजवाएँ।

नाम : .....
पता : .....
.....
.....
.....
फोन : .....

यहाँ से काटिए

चेक/ड्राफ्ट संपादक / प्रसार व्यवस्थापक, **साहित्य यात्रा,** पटना के नाम पर ही बनाएँ और निम्नलिखित पते हमें भेजने की कृपा करें :-

**संपादक**
**साहित्य यात्रा**
ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001 (बिहार)
**फोन :** 9835063713/8507473724
ई-मेल : shahityayatra@gmail.com
वेब साईट : http:/www.sahityayatra.com

**अंक आप साहित्य यात्रा के पते पर मनीऑर्डर भेज कर भी मंगा सकते हैं।**

# साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

वर्ष-2 अंक-9 जुलाई-दिसम्बर, 2016

**परामर्शी**

डॉ॰ सूर्य प्रसाद दीक्षित

डॉ॰ श्रीरंजन सूरिदेव

डॉ॰ रामशोभित प्रसाद सिंह

डॉ॰ संजीव मिश्र

**सम्पादकीय सलाहकार**

श्री आशीष कंधवे

**सहायक संपादक**

डॉ॰ सत्यप्रिय पाण्डेय

डॉ॰ रवीन्द्र पाठक

**आवरण चित्रांकन**

डॉ. हर्षवर्धन आर्य

**व्यवस्थापकीय सहयोग**

श्री अमित मिश्र

मो॰ : 8507473724

**संपादक**

**डॉ॰ कलानाथ मिश्र**

साहित्य यात्रा में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण संबंधित लेखकों के हैं जिनसे संपादक, प्रकाशक, मुद्रक एवं पत्रिका से जुड़े किसी भी व्यक्ति का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सभी विवादों का निपटारा पटना क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित है। पत्रिका में संपादन से जुड़े सभी पद गैर-व्यावसायिक एवं अवैतनिक है।

# साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

RNI No. : BIHHINO5272
ISSN 2349-1906

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के पुनः उपयोग के लिए लेखक,
अनुवादक अथवा **साहित्य यात्रा** की स्वीकृति अनिवार्य है।

संपादकीय कार्यालय
'अभ्युदय'
ई-112, श्रीकृष्णपुरी
पटना-800001 (बिहार)
मोबाइल : 09835063713/08507473724
ई-मेल : sahityayatra@gmail.com
वेब साईट : http:/www.sahityayatra.com

मूल्य : ₹ 45

| | | |
|---|---|---|
| शुल्क दर : | एक वर्ष (4 अंक) | 300 |
| | तीन वर्ष (12 अंक) | 750 |
| | (डाक खर्च सहित) | |
| | संस्थागत मूल्य (3 वर्ष) | 1100 |
| | आजीवन सदस्यता | 11,000 |
| | विदेश के लिए | 60 डॉलर (3 वर्ष) |

शुल्क **'साहित्य यात्रा'** के नाम पर भेजें।

'साहित्य यात्रा' त्रैमासिक डॉ॰ कलानाथ मिश्र के स्वामित्व में और उनके द्वारा 'अभ्युदय' ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001, बिहार से प्रकाशित तथा ज्ञान गंगा क्रियेशन्स, पटना से मुद्रित। स्वामी/संपादक/प्रकाशक/मुद्रक : डॉ॰ कलानाथ मिश्र।

# अनुक्रम


**संपादकीय** 07-08
डॉ. कलानाथ मिश्र

**आपके पत्र** 09-10

**आलेख**

रामदरश मिश्र
**आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और कथालोचन** 11-20

**संस्मरण**

विजय निकोर
**मेरी प्रिय अमृता प्रीतम जी** 21-29

**आलेख**

प्रो० (डॉ०) गणेश प्रसाद
**हिन्दी कविता में रहस्यवाद** 30-37

डॉ. श्रुति आनंद सिंह
**स्त्री कविता विमर्शों से परे** 38-45

डॉ. राजहंस कुमार
**हिन्दी कविता में पर्यावरण बोध** 46-52

डॉ. प्रभात शर्मा
**हिन्दी कविता में आपदा विमर्श** 53-65

जीतेन्द्र कुमार मीना
**स्त्री स्वातंत्र्य का प्रश्न और ध्रुवस्वामिनी** 66-72

ज्योत्स्ना कुमारी
**'मोहन राकेश की डायरी' युग और परिवेश का दस्तावेज** 73-79

अजीत कुमार
**हिन्दी गीत की विकास-यात्रा** 80-88

आशुतोष शुक्ल
**'राग दरबारी' की भाषा में लैंगिक पक्षपात** 89-100

**समीक्षा**

डॉ. आशा मेहता
**बिरले दोस्त कबीर के** 101-104

## लघु कथा

डॉ. सारिका कालरा

**चुप्पी, चाँद की अठखेलियां, उसका रास्ता** 105-107

## कविता

सपना मांगलिक

**माँ भारती हम सब की माता, ऐसा जतन करो** 108-110

## रिपोर्ट

मैत्रेयी पुष्पा

**साहित्य रचने की प्रेरणा** 111-113

**लहरी राम मीणा को मिला 'कादम्बरी सम्मान'**

## दस्तावेज

जानकीवल्लभ शास्त्री

**निराला की कविता** 114-120

# सम्पादकीय

साहित्य यात्रा अपनी यात्रा करते हुए नवीन वर्ष में प्रवेश कर रही है। यात्रा में विभिन्न प्रकार के बाधाओं का आना स्वाभाविक है। किन्तु यात्री यदि अपनी यात्रा के प्रति दृढ़ प्रतिज्ञ हो तो वह सभी बाधाओं को पार करते हुए अपनी यात्रा में समर्पण भाव से लगा रहता है। साहित्य रचना भी कमोवेश ऐसे ही संकल्प की मांग करती है। बहरहाल साहित्य यात्रा का यह अंक वैविध्यपूर्ण विषयों से युक्त है। दरअसल इस अंक को हिन्दी नाटक पर केन्द्रित करने की योजना थी, किन्तु उसमें यथोचित सफलता नहीं मिली। पाठकों को नाटक पर कुछ विशेष सामग्री अवश्य मिलेगी, किन्तु हिन्दी नाटक को केन्द्र में रखकर जिस प्रकार के आलेखों की अपेक्षा थी वह उपलब्ध नहीं हो पाया। यह सत्य है कि इधर साहित्यिक हल्के में नाटक विधा पर कोई खास हचलच नहीं दिखाई पड़ रही है, ऐसे में नाटक पर लिखा पढ़ा जाना और भी आवश्यक हो गया है। नाटक काव्यों में सबसे उत्तम विधा कही गई है, 'काव्येषु नाटकं रम्यं'। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का नाटक भारत दुर्दशा जहां तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक विडम्बनाओं को उजागर करता है, वहीं जयशंकर प्रसाद का नाटक ध्रुवस्वामिनी स्त्री स्वातंत्र्य की चेतना को बल देता है और स्त्री विमर्श के उदगार को पृष्ठभूमि प्रदान करता है। जो लोग स्त्री विमर्श के नाम पर पाश्चात्य देशों की दुहाई देते हैं उन्हें ध्रुवस्वामिनी पढ़ लेना चाहिए। 'जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटकों का अन्तःसम्बम्ध' आलेख में डॉ. रीतारानी पालीवाल ने प्रसाद और मोहन राकेश की रंगदृष्टि का गंभीर तुलनात्मक विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत किया है। आज नुक्कड़ नाटकों का प्रस्तुतीकरण भरपूर हो रहा है। वे ज्वलंत मुद्दे-भी उठाते रहे हैं किन्तु नुक्कड़ नाटकों पर भी शोधपूर्ण आलेख का अभाव ही रहा। डॉ. रामदरश मिश्र जी का आलेख ऐसे विषय पर आधारित है जिस पर पाठकों और आलोचकों का ध्यान गया ही है मसलन आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कथालोचक व्यक्तित्व की जानकारी बहुत कम लोगों

को है। मिश्र जी का यह आलेख बेहद शोधपरक एवं विश्लेषण परक है और आचार्य शुक्ल के कथालोचक व्यक्ति को बड़ी ही गहराई से उद्घाटित करता है।

संस्मरण साहित्य का अपना महत्व है। खासकर जब वह एक ऐसे रचनाकार से जुड़ा हो जो अब हमारे बची यशः शेष ही है। अतः विजय निकोर जी की कलम से अमृता, प्रीतम जी का संस्मरण निश्चय ही पाठकों को रूचेगा। यह संस्मरण हम क्रमशः तीन अंकों में प्रकाशित करेंगे। डॉ. गणेश प्रसाद सिंह हिन्दी के अवकाश प्राप्त प्राध्यापक एवं वरिष्ठ आलोचक हैं। हिन्दी कविता में रस्यवाद शीर्षक निबंध में उन्होंने इस विषय पर गंभीरता से विश्लेषण किया है। पर्यावरण संकट आज विश्वव्यापी संकट बन गया है वैज्ञानिक भले इस संकट से आगाह करते रहे हों किन्तु साहित्य में पर्यावरण सुरक्षा का भाव अनादिकाल से विद्यमान रहा है। वैदिककालीन समाज तो बाकायदा प्रकृति पूजक समाज ही रहा है, उसे हम प्रकृति पूजा भले कहें लेकिन वह समाज प्रकृति के महत्व को समझता था, उसकी रक्षा करता था न कि उसे उजाड़ता था। आधुनिकता और वैज्ञानिकता ने प्रकृति को नष्ट किया है उसका दुष्परिणाम हमारे सामने है। डॉ. प्रभात शर्मा और डॉ. राजहंस कुमार का आलेख इसी विषय पर आधारित है और इस पर गंभीर विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

इसके अतिरिक्त इस अंक में कवितायें भी हैं, लघुकथाएं भी हैं, साहित्यिक गतिविधियों की चर्चा भी है और पाठकीय प्रतिक्रियाएं भी दी गई हैं। कुल मिलाकर यह अंक विविधतापूर्ण अंक है, यों भी साहित्य और समाज में वैविध्य ही होना चाहिए, एकरसता ऊब पैदा करती है और साहित्य का तो कार्य ही है विविध स्वरों को एक साथ साधते हुए सबको साथ लेकर चलना और इसी दिशा में साहित्य यात्रा की यात्रा अनवरत जारी रहेगी, इसी मंगलकामना के साथ यह अंक पाठकों को सौंपता हूँ। इस अंक के सभी सहयोगी रचनाकारों को मैं साधुवाद देता हूँ विशेष रूप से पत्रिका के सहायक सम्पादक डॉ. सत्यप्रिय पाण्डेय जी को जिन्होंने आलेख संग्रह से लेकर पत्रिका के प्रकाशन तक तन्मयता से कार्य किया है।

आप सबको नव वर्ष की हार्दिक शुभकामनाएं।

आपका

**आपका**
**डॉ. कलानाथ मिश्र**

प्रिय कलानाथ जी,

साहित्य यात्रा का नया अंक देखा, पढ़ा। इससे पूर्व के एक अंक में आपने मेरे साहित्य को केन्द्रित किया था। आपके मन में मेरे प्रति जो प्रीति भाव है, उसकी अभिव्यक्ति हुई थी। इस अंक में एक अच्छी बात मुझे यह दिखाई पड़ी कि नए लेखकों ने अनेक विषयों पर बहुत प्रभावशाली लेख लिखे हैं। नए लोग नई ऊर्जा के साथ साहित्य से जुड़ते हैं। उनकी दृष्टि में भी एक ताजगी होती है, इसलिए वे जो लेख लिखते हैं उनमें बहुआयामिता तो होती ही है, गहराई भी होती है। इस अंक कि एक विशेषता यह भी है कि नये आलोचक डॉ. सत्य प्रिय पाण्डे इससे जुड़ गए हैं, मुझे आशा है कि उनके प्रयत्नों से अनेक लेखक इस पत्रिका से जुड़ेंगे और अधिकाधिक प्रभावशाली बनायेंगे।

**- रामदरश मिश्र**

---

## प्राणवान और स्तरीय साहित्यिक पत्रिका के लिए बधाई

'साहित्य यात्रा' पत्रिका का नया अंक प्राप्त हुआ। अंक को पढ़ने के पश्चात एक स्तरीय और आकर्षक साहित्यिक सामग्री से युक्त पत्रिका की अनुभूति हुई। आज के समय में जैसी पत्रिकाओं की नितांत आवश्यकता है 'साहित्य यात्रा' पत्रिका उसकी पूर्ति करती है। इस पत्रिका के पिछले अंकों में साहित्यिक विषयों और तत्कालीन मुद्दों, विमर्शों को समुचित रूप से पाठकों के समक्ष रखा जाता रहा है। नये अंक में भी शास्त्र, कविता, लोकगीत, गजल, भाषा, रूप, कथा आदि पर शोधपरक और नई चिंतन दृष्टि को बखूबी देखा जा सकता है। युवा आलोचकों ने नवीन आयामों में दिनकर, शिवप्रसाद सिंह, निर्मल वर्मा, चन्द्रकान्त देवताले जैसे रचनाकारों के साहित्यिक कर्म से सहृदय पाठकों को रूबरू कराया गया है। इस अंक में संत पलटूदास की सामाजिक दृष्टि का विश्लेषण है तो हिंदी नवजागरण में राधामोहन गोकुल के योगदान पर चिंतन भी। शोध पर पर्याप्त सामग्री इस अंक में मौजूद है जो शोधकर्ताओं के लिए सार्थक है। दस्तावेज के रूप में राहुल सांकृत्यायन की 'मैना' कहानी प्रभावी है। कविता की दृष्टि से अमित कुमार की 'बेजमीन' ने बेहद प्रभावित किया। पत्रिका के संदर्भ में दो सुझाव हैं पहला अंक में पाठकीय प्रतिक्रियाओं को सम्मिलित किया जाए एवं दूसरा पुस्तक समीक्षा अधिक से अधिक प्रकाशित की जाएँ ताकि नए लेखक एवं पाठक और अधिक लाभान्वित हो सकें। पाठकीय प्रतिक्रिया की एक

सीमा होती है अत: और चर्चा किसी आगामी अंक में। यह पत्रिका नित नई ऊँचाईयाँ प्राप्त करे। एक प्राणवान पत्रिका और उसके नए अंक के लिए बधाई।

**वेद प्रकाश**
**दिल्ली विश्वविद्यालय**

---

# 'साहित्य यात्रा' : एक गंभीर एवं विचारोत्तेजक साहित्यिक पत्रिका

संपादक 'साहित्य यात्रा' पत्रिका, 'साहित्य यात्रा' पत्रिका का जनवरी-जून अंक मिला। सर्वप्रथम विचारोत्तेजक पत्रिका निकालने के लिए संपादक और सहयोगियों को बधाई। पत्रिका की साज-सज्जा और सामग्री निसंदेह गंभीर, वैचारिक, उच्चस्तरीय और प्रेरणादायी है। नए अंक में त्र्यम्बक नाथ त्रिपाठी का लेख 'निषेध और विधि का सौन्दर्यशास्त्री- क्रोचे' बेहद प्रभावित करता है। यह प्रभाव अंक के आरंभ से लेकर आखिरी तक विद्यामान है। डॉ. सत्यप्रिय पाण्डेय का लेख 'फगुआ' गीत की लोकव्याप्ति और सरोकारों को रेखांकित करता है। गजल-यात्रा पर शोध की दृष्टि से डॉ. शहाबुद्दीन का लेख महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से श्रुति आनंद सिंह का 'हिन्दी और उर्दू की स्त्रीवादी कविता का तुलनात्मक अध्यन' लेख भी उल्लेखनीय है। चन्द्रकान्त देवताले की कविता पाठकों को प्रभावित करती रही है। उनके काव्य में स्त्री के विविध रूपों की व्यापक पड़ताल अमरेन्द्र पाण्डेय के लेख में व्यापकता से मिलती है। भूमि अधिग्रहण के ग्रामीण जीवन पर प्रभाव को राजकुमार ने नए नजरिए से उकेरा है। नारी चिंतन के विविध रूप इस पूरे अंक में हैं। कुल मिलाकर पत्रिका का नया अंक अपने कलेवर और वैविध्य से युक्त है। उम्मीद है कि भविष्य में भी इसी तरह की संपादकीय दृष्टि देखने को मिलेगी। पत्रिका की सफलता एवं उत्कृष्टता हेतु पुनश्च शुभकामनाएँ.....।

**जीतेंद्र कुमार मीना**
**दिल्ली विश्वविद्यालय**

---

रामदरश मिश्र हिन्दी साहित्य के जाने–माने रचनाकार हैं। कविता, कहानी, उपन्यास, समीक्षा, निबंध, आत्मकथा, यात्रा, संस्मरण, डायरी साहित समस्त साहित्यिक विधाओं में विपुल लेखन।
**संप्रति** : सेवा निवृत प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय।

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और कथालोचन

रामदरश मिश्र

**शुक्ल जी की एक बहुत बड़ी विशेषता है उनके चिन्तन का देशीपन। ये किसी भी विधा की बुनियादी प्रवृत्तियों और किसी भी रचना की मूल शक्तियों की तो सही पहचान करते ही हैं, किन्तु वे हमेशा यह अनुभव करते हैं कि शक्ति अपने ही परिवेश और परम्परा से प्राप्त होती है। किसी विधा का रूप विदेश से लिया गया हो सकता है, किन्तु उसकी प्राणमत्ता और चेतना अपने आसपास के जगत् के अनुभव और अपनी परम्परा की जीवन्त शक्तियों की पहचान से ही प्राप्त होती हैं।**

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी कथा साहित्य पर अलग से कुछ नहीं लिखा है। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते हुए उन्होंने हिन्दी उपन्यास और कहानी का विकास दिखाया है। इस प्रक्रिया में उन्होंने उपन्यास और कहानी की विशेषताओं का भी संक्षेप में उल्लेख किया है। आचार्य शुक्ल ने काव्य के अतिरिक्त अन्य किसी विधा की कृतियों पर अलग से नहीं लिखा, किन्तु इतिहास में अन्य विधाओं की प्रवृत्तियों और विकास के सम्बन्ध में जितना कहा है वह उनकी उन विधाओं की बुनियादी शक्ति की गहरी पहचान का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

शुक्ल जी की एक बहुत बड़ी विशेषता है उनके चिन्तन का देशीपन। ये किसी भी विधा की बुनियादी प्रवृत्तियों और किसी भी रचना की मूल शक्तियों की तो सही पहचान करते ही हैं, किन्तु वे हमेशा यह अनुभव करते हैं कि शक्ति अपने ही परिवेश और परम्परा से प्राप्त होती है। किसी विधा का रूप विदेश से लिया गया हो सकता है, किन्तु उसकी प्राणमत्ता और चेतना अपने आसपास के जगत् के अनुभव और अपनी परम्परा की

जीवन्त शक्तियों की पहचान से ही प्राप्त होती हैं यानी कोई रचना अपने अनुभव और चेतना में देशी होकर ही अपनी पहचान बनाती है और यही रचना अपनी सुदीर्घ परम्परा की शक्ति का विकास कर उसकी अगली कड़ी भी बनती है और अपनी चेतना के देशीपन के कारण ऐसी रचनाएँ विदेशी रूप को भी अपने अनुकूल बदलती रहती हैं, उसे ज्यों-का-त्यों लेकर नहीं चलतीं।

रामचन्द्र शुक्ल से पूर्व कथा-समीक्षा का कोई व्यवस्थित और व्यापक रूप नहीं दिखाई पड़ता। भारतेन्दु और द्विवेदी काल में कुछ छिटपुट समीक्षाएँ ही दिखाई पड़ती हैं, वे भी किसी पुस्तक की रिव्यू के रूप में। हिन्दी कहानी की शुरुआती तो सन् 1901 में होती है, किन्तु हिन्दी का पहला विशिष्ट उपन्यास 'परीक्षागुरु' सन् 1882 में आ चुका था और उसके आसपास बहुत से सामाजिक, ऐतिहासिक, जासूसी और तिलस्मी-ऐय्यारी उपन्यास लिखे गये, किन्तु रामचन्द्र शुक्ल से पूर्व किसी ने व्यवस्थित रूप से उपन्यासों पर समीक्षा नहीं लिखी। हाँ, प्रेमधन ने गजाधर सिंह द्वारा अनूदित रमेशचन्द्र दत्त के उपन्यास 'वंग विजेता' की, बालकृष्ण भट्ट ने परीक्षागुरु' की तथा बालमुकुन्द गुप्त ने 'तारा' की, कुछ लम्बी समीक्षाएँ अवश्य कीं। किन्तु ये समीक्षाएँ एक-एक पुस्तक पर आधारित हैं और उनका स्वर साहित्यिक से ज्यादा नैतिक है। अतः आचार्य शुक्ल के सामने कथा-समीक्षा का विदेशी प्रतिमान तो था, किन्तु साहित्य पर आधारित कोई देशी प्रतिमान नहीं था और आचार्य शुक्ल विदेशी प्रतिमानों के पीछे न दौड़कर अपने देशी सन्दर्भ में प्रतिमान निश्चित करने वाले आचार्य थे।

शुक्ल जी ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के अपने वक्तव्य में कहा है- आधुनिक काल में गद्य का आविर्भाव सबसे प्रधान साहित्यिक घटना है।'' साहित्यिक घटना इसलिए कि गद्य के आविर्भाव से साहित्य के भीतर अनेक रूपता का विकास हुआ। यानी गद्य के कारण अनेक काव्येतर विधाओं का आविर्भाव और विकास हुआ जिससे हमारा साहित्य बहुत समृद्ध हुआ। फिर उन्होंने आधुनिक काल में उपन्यास-कहानी पर लिखते हुए कहा, ''वर्तमान जगत् में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक, विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं। समाज के बीच खानपान के व्यवहार तक में जो भद्दी नकल होने लगी है - गर्मी के दिनों में भी सूटबूट कसकर टेबुलों पर जो प्रीतिभोज होने लगा है - उसको हँसकर उड़ाने की सामर्थ्य उपन्यासों में ही है। लोक या जन-समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं, उनको गोचर रूप में सामने लाना और कहीं-कहीं निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।''

प्रस्तुत उद्धरण बड़े महत्त्व का है। इसमें पहली बार उपन्यास के वास्तविक महत्त्व को रेखांकित किया गया। शुक्ल जी की दृष्टि में उपन्यास वर्तमान जगत् में एक बड़ी शक्तिशाली विधा है। उसकी शक्ति उसके मनोरंजन में नहीं है, बल्कि इस बात में है कि वह बदलते हुए समाज के

विभिन्न वर्गों की प्रवृत्तियों का साक्षात्कार करता है तथा उसके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न करता है। शुक्ल जी ने उपन्यास की शक्ति सामाजिक यथार्थ के साक्षात्कार और दिशा-निर्देश की प्रवृत्ति उत्पन्न करने में मानी। वे उपन्यास को यदि मनोरंजन से नहीं जोड़ते तो उपदेश से भी नहीं जोड़ते। उन्होंने सुन्दर बदलाव का नारा देने की बात नहीं की , उसकी प्रवृत्ति उत्पन्न करने की बात कही। प्रवृत्ति जब भी उत्पन्न होगी यथार्थ से गुजरने की प्रक्रिया से ही होगी। प्रवृत्ति नारों से नहीं, लेखकीय टिप्पणियों से नहीं, सतही उपदेशों से नहीं, वरन् यथार्थ के गहरे साक्षात्कार के बीच मूल्यों की पहचान से पैदा होती है। वह बहुत भीतरी और सौन्दर्य-प्रक्रिया से पैदा होने वाली चीज है। इसलिए यह विचार स्थापित किया जा सकता है कि प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल दोनों ही ने उपन्यास को मनोरंजन और उपदेश के क्षेत्र से निकाल कर यथार्थ और मूल्य की सुदृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठित होते देखना चाहा।

मनोरंजन उपन्यास का बहुत आवश्यक किन्तु ऊपरी गुण है। इस गुण के माध्यम से रस-संचार करना, भाव-विभूति जगाना और चरित्रों की विशिष्टताओं की पहचान उभारना साहित्यिक उपन्यासों का काम होता है। इसलिए शुक्ल जी ने मनोरंजन की दृष्टि से धूम मचाने वाले उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' को साहित्य की कोटि में नहीं रखा। उनकी दृष्टि में इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना-वैचित्र्य रहा, रस-संसार, भाव-विभूति या चरित्र-चित्रण नहीं। ये वास्तव में घटना-प्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमें जीवन के विभिन्न पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं, इससे ये साहित्य की कोटि में नहीं आते।'' ध्यान देने की बात है कि शुक्ल जी उपन्यास का सम्बन्ध रस-संचार, भाव-विभूति और चरित्र-चित्रण से तो जोड़ते ही है, जीवन की व्यापकता और वैविध्य की पहचान से भी जोड़ते हैं। उपन्यास में जीवन के विविध पक्षों का चित्रण होना चाहिए। वास्तव में इस विधा की सार्थकता जीवन की विविधता को रूपायित करने में ही है। जिसकी ओर निबन्ध के शुरू में ही उद्धृत शुक्ल जी का उद्धरण इशारा करता है।

दूसरी ओर 'परीक्षा गुरु' जैसे सामाजिक उपन्यास पर लिखते हुए शुक्ल जी ने लिखा- ''श्रीनिवासदास ने 'परीक्षागुरु' नाम का एक शिक्षा-प्रद उपन्यास भी लिखा। वे खड़ी बोली की बोलचाल के शब्द और मुहावरे अच्छे लाते थे। अतः उनकी भाषा संयत और साफ-सुथरी तथा रचना बहुत कुछ सोद्देश्य होती थी।'' शुक्ल जी ने इस उपन्यास की सोद्देश्यता, उपदेश-प्रधानता और भाषा की सफाई तथा संयम को ही रेखांकित किया। उन्हें इस उपन्यास में या तो उपन्यास के और गुण दिखाई नहीं पड़े या उनकी चर्चा नहीं की। यदि दिखाई नहीं पड़े तो कहा जा सकता है कि यह शिक्षाप्रद उपन्यास अपनी उपदेशात्मकता के बावजूद उन्हें बहुत प्रभावित नहीं कर सका।

अतः फिर उस बात की ओर लौटा जा सकता है जिसकी खोज शुक्ल जी उपन्यास में करते हैं। ''लोक या किसी जन-समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं उनका गोचर रूप में सामने लाना और कहीं-कहीं निस्तार मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।'' इस दृष्टि से जब शुक्ल जी ने विचार किया तो लगा-इस

तृतीय उत्थान में हमारा उपन्यास और कहानी-साहित्य ही सबसे अधिक समृद्ध हुआ। 'नूतन विकास लेकर आने वाले प्रेमचन्द जी जो कर गये वह तो हमारे साहित्य की एक निधि ही है, उनका अतिरिक्त पं. विश्वम्भर नाथ कौशिक, बाबू प्रताप नारायण श्रीवास्तव, श्री जैनेन्द्र कुमार ऐसे सामाजिक उपन्यासकार तथा बाबू वृन्दावनलाल वर्मा ऐसे ऐतिहासिक उपन्यासकार उपन्यास-भंडार की बहुत सुन्दर पूर्ति करने जा रहे हैं।' जाहिर है कि शुक्ल जी ने सामाजिक जीवन-यथार्थ का चित्रण करने वाले उपन्यासों को विशेष महत्त्व दिया है। सामाजिक जीवन-यथार्थ अपने भीतर राजनीतिक और आर्थिक पहलूओं को समेटे रहता है। ''सामाजिक उपन्यासों में देश में चलने वाले राष्ट्रीय तथा आर्थिक आन्दोलनों का आभास बहुम कुछ रहता है। ताल्लुकदारों के अत्याचार, भूखे किसानों की दारुणदशा के बड़े चटकीले चित्र उसमें प्राय: पाए जाते हैं।'' इस सन्दर्भ में शुक्ल जी की देशी रचनात्मक दृष्टि एक अहम सवाल उठाती है। वह यह कि क्या उपन्यासकारों को राजनीतिक दलों द्वारा प्रचारित बातें लेकर चलना चाहिए या वस्तुस्थिति पर अपनी दृष्टि भी डालनी चाहिए। जाहिर है राजनीतिक दलों का मुख्य सरोकार एक खास प्रकार के दृष्टिकोण या विचारधारा से होता है और वे आदमी को सम्पूर्णता में देखने के स्थान पर खंड रूप में देखते हैं। उपन्यासकार या साहित्यकार आदमी को सम्पूर्णता में देखना है और उसे एक विचारधारा के तहत गढ़ता नहीं है, उसके और उसके परिवेश के बीच रहकर उसका भीतर से बाहर तक साक्षात्कार करता है। यानी लेखक के सामने एक जीवन्त परिवेश और उस परिवेश से जुड़ा मनुष्य-समाज रहता है। लेखक उसका अनुभव करता है और फिर उन अनुभवों को अपनी दृष्टि विशेष या विचारधारा से विश्लेषित और सर्जित करता है। इसलिए जो चीज एक राजनीतिक के लिए फार्मूला होती है वह साहित्यकार के लिए जीने की वस्तु होती है। वह उसे जीकर, उसका अनुभव कर उसकी संश्लिष्ट वास्तविकता का साक्षात्कार करता है तब उसे लगता है कि एक खास तरह के राजनीतिक के लिए जो जमींदार शोषक का प्रतीक होता है वह उपन्यासकार के लिए सुख-दु:ख और अच्छाई-बुराई से स्पन्दित एक आदमी भी होता है। अपने आसपास के जमींदारों का साक्षात्कार करके ही जाना जा सकता है कि जो जमींदार राजनीतिकों के लिए या विचारधारा से ही काम चला लेने वाले लेखकों के लिए फट से शोषक काप्रतीक बन जाते हैं। उनमें 98 प्रतिशत जमींदार ऐसे हैं जो साधारण हैं और वे भी किसानों ही की कोटि में आते हैं। शुक्ल जी ने अपने समय के शोषण की पहचान की थी और यह अनुभव किया था कि राजनीतिकों द्वारा प्रचारित बातों और अनुभव से गृहीत बातों में अन्तर होता है। शासन देश का शोषण कर रहा है, किन्तु उस शोषण का सारा आघात गाँव के ऊपर ही होता है, नगर के महाजन उससे बचे रहते हैं। यानी गुलामी पूरे देश के लिए एक-सी अमूर्त और एक-सी भयानक चीज नहीं है, उसकी पीड़ा ठोस है और उस पीड़ा में सभी एक ही तरह नहीं फँसे हुए हैं। आजादी का आन्दोलन मात्र राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्ति के लिए था। यदि उसने देश के उन वर्गों की ठोस पहचान की होती जो देश और विदेश दोनों की मार झेल रहे थे, जिनकी पीड़ा का वास्तविक स्रोत गरीबी, भुखमरी और तज्जन्य अमानवीय यन्त्रणा था तो उस आन्दोलन का स्वरूप इतना

वायवीय नहीं होता और न उसकी उपलब्धियाँ इतनी अरूप होतीं, बल्कि उसका मुँह शोषित-पीड़ित वर्गों की ओर रहा होता और उसकी उपलब्धियाँ भी उन्हीं के सन्दर्भ में आँकी जातीं।

आचार्य शुक्ल ने उपन्यासकार को अपने देश की वास्तविकता के अनुभव से जोड़ते हुए कहा - ''उन्हें यह भी देखना चाहिए कि अंग्रेजी राज्य जमने पर भूमि की उपज या आमदनी पर जीवन निर्वाह करने वालों (किसान और जमींदारों दोनों) की ओर नगर के रोजगारियों या महाजनों की परस्पर क्या स्थिति हुई। उन्हें यह भी देखना चाहिए कि राजकर्मचारियों का **इतनार चक्र ग्रामवासियों के सिर पर ही चला करता है, व्यापारियों का वर्ग उससे प्रायः बचा रहता है।** भूमि ही यहाँ सरकारी आय का प्रधान उद्‌गम बना दी गयी हैं व्यापार श्रेणियों को यह सुविधा विदेशी व्यापार को फलता-फूलता रखने के लिए दिया गया था जिससे उनकी दशा उन्नत होती आयी और भूमि से सम्बन्ध रखने वाले सब वर्गों की - क्या जमींदार, क्या किसान, क्या मजदूर-गिरती गयी।'' आगे लिखते हैं- जमींदारों के अन्तर्गत हमें 98 प्रतिशत साधारण जमींदारी को लेना चाहिए, 2 प्रतिशत बड़े-बड़े ताल्लुकेदारों को नहीं । किसान और जमींदार एक ओर तो सरकार की भूमि सम्बन्धी नीति से पिसते जा रहे हैं दूसरी ओर उन्हें भूखों मारने वाले नगरों के व्यापारी हैं जो इतने घोर श्रम से पैदा की हुई भूमि की उपज के भाव अपने लाभ की दृष्टि से घटाते-बढ़ाते रहते हैं। भाव किसानों के हाथ में नहीं। किसानों से बीस सेर के भाव से अन्न लेकर व्यापारी सात-आठ सेर के भाव से बेचा करते हैं। नगरों के मजदूर तक पान-बीड़ी के साथ सिनेमा देखते हैं, गाँव के जमींदार और किसान कष्ट से किसी प्रकार दिन काटते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि हमारे उपन्यासकारों को वर्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गड़ाकर देखना चाहिए, केवल राजनीतिक दलों की बातों को लेकर ही न चलना चाहिए। साहित्य को राजनीति के ऊपर रहना चाहिए, सदा उसके इशारों पर ही न नाचना चाहिए।'' आचार्य शुक्ल देश और समाज की सामान्य वास्तविकताओं से उपन्यास-लेखन का सम्बन्ध जोड़कर उसकी विशिष्ट प्रकृति और शक्ति की पहचान रेखांकित कर रहे हैं और सामान्य वास्तविकताओं स उपन्यास लेखन का संबंध जोड़कर उसकी विशिष्ट प्रकृति और शक्ति की पहचान रंखांकित कर रहे हैं और सामान्य वास्तविकताओं के केन्द्र में गाँव और किसानी जीवन को रख रहे हैं। इस केन्द्रीय भारतीय जीवन का सत्ता, नगर और व्यवसाय के किन बिन्दुओं पर तनाव है, इसकी ओर भी संकेत कर रहे हैं। ध्यान देने की बात है कि शुक्ल जी गाँव और कृषि जीवन को ठोस आर्थिक परिस्थितियों के बीच पहचानना चाहते हैं, रूमानी दृष्टि से उसके पास नहीं पहुँचना चाहते। शुक्ल जी अपने देश और समाज के अन्य पक्षों की उपेक्षा नहीं करते, किन्तु वे केन्द्र को हमेशा दृष्टि में रखते हैं। ''अपने देश में यूरोपिय रहन-सहन की पद्धति पर जीवन जीने वाले कुछ वर्ग भी पैदा हो रहे हैं, कुछ उपन्यास उन्हीं के यथार्थ तक अपने को सीमित रखे हुए हैं। उनमें मिस्टर, प्रोफेसर, होटल, क्लब, ड्राइंग रूम, टेनिस मैच, सिनेमा, मोटर पर हवाखोरी, कॉलेज के छात्रावस्था के बीच प्रणय-व्यापार इत्यादि ही सामने आते

हैं'' शुक्ल जी मानते हैं- ''यह ठीक है कि अंगेजी शिक्षा के दिन-दिन बढ़ते हुए प्रचार से देश के आधुनिक जीवन का यह भी एक पक्ष हो गया है, पर सामान्या पक्ष नहीं। भारतीय रहन-सहन, खान-पान, रीति व्यवहार प्राय: सारी जनता के बीच बने हुए हैं। देश के असली सामाजिक और घरेलू जीवन को दृष्टि से ओझल करना हम अच्छा नहीं समझते।''

विदेशीपन में रस लेने वाले उपन्यासों को अतिरिक्त महत्ता देकर देशी जमीन की ताकत पर बने उपन्यासों की उपेक्षा करना आज का फैशन हो गया हैं शुक्ल जी ने अपने समय में ही इस खतरे को भाँपकर देश की सामान्य जनता के यथार्थ पर आधारित उपन्यासों की शक्ति रेखांकित की थी। ''द्वितीय उत्थान के भीतर बंगला से अनूदित अथवा उसके आदर्श पर लिखे गये उपन्यासों में देश की सामान्य जनता के गार्हश्थ्य और पारिवारिक जीवन के बड़े मार्मिक और सच्चे चित्र रहा करते थे। प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी निम्न और मध्य श्रेणी के गृहस्थों के जीवन का बहुत सच्चा स्वरूप मिलता रहा।''

शुक्ल जी जीवन-यथार्थ को परिस्थितियों के उद्घाटन तक सीमित नहीं रखते, उसे मन:स्थितियों की गहराई तक खींच ले जाते हैं। मानव-जीवन के केन्द्र में तो मानव ही है न। और मानव कोई सरल इकाई नहीं है, यह न जाने कितने सम्वेदनों और चिन्ताओं का संश्लिष्ट रूप है और हर मनुष्य एक-दूसरे से मिलता हुआ कहीं न कहीं अलग है, उसका कोई न कोई रंग विशिष्ट है। जीवन-यथार्थ के उद्घाटन में मानव-चरित्रों का केन्द्रीय योगदान होता है और मानव-चरित्र अपने वास्तविक रूप में सपाट, इकहरे नहीं होते, वर्तुल और संश्लिष्ट होते हैं। यह सवाल प्रेमचन्द ने भी उठाया और आचार्य शुक्ल ने भी। और सच बात तो यह है कि प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यासों में अन्त: प्रकृति या शील के चित्र के उद्घाटन के दर्शन नहीं होते। प्रेमचन्द के ही उपन्यासों को देखकर शुक्ल जी ने हिन्दी उपन्यासों के सन्दर्भ में यह बात उठाई। ''द्वितीय उत्थान के मौलिक उपन्यासकारों में शील-वैचित्र्यकी उद्भावना नहीं के बराबर थी। प्रेमचन्द के ही कुछ पात्रों में ऐसे स्वाभाविक ढाँचे की व्यक्तिगत विशेषताएँ मिलने लगीं जिन्हें सामने पाकर अधिकांश लोगों को यह भासित हो कि कुछ इसी ढंग की विशेषता वाले व्यक्ति हमने कहीं-न-कहीं देखे हैं। ऐसी व्यक्तिगत विशेषता ही सच्ची विशेषता है। उसे झूठी विशेषता और वर्गगत विशेषता दोनों से अलग समझना चाहिए। मनुष्य-प्रकृति की व्यक्तिगत विशेषताओं का संगठन भी प्रकृति के और विधानों के समान कुछ ढर्रों पर होता है अत: ये विशेषताएँ बहुतों को दिखाई पड़ती रहती हैं चाहे वे उन्हें शब्दों में व्यक्त न कर सकें।'' ''अत: प्रकृति या शील के उत्तरोत्तर उद्घाटन का कौशल भी प्रेमचन्द के दो-एक उपन्यासों में, विशेषत: 'गबन' में देखने में आया। सत् और असत्, भला और बुरा दो सर्वथा भिन्न वर्ग करके पात्र-निर्माण करने की अस्वाभाविक प्रथा भी इस तृतीय उत्थान में कुछ कम हुई पर मनोवृत्तियों की अस्थिरता का वह चित्र अभी बहुत कम दिखाई पड़ा जिसके अनुसार कुछ परिस्थितियों में मनुष्य अपने शील और स्वभाव के विरुद्ध आचरण कर जाता है।'' यहाँ ध्यान देने की बात है कि शुक्ल जी शील-वैचित्र्य की बात तो करते हैं, किन्तु पश्चिम के शील-वैचित्र्य

वादियों के विपरीत उसे प्रकृति के और विधानों के समान ही एक ढर्रे पर संगठित होता हुआ मानते हैं, अर्थात् उस वैचित्र्य की भी एक सामान्यता है, गोचरता है, तार्किकता है। वह देश-दुनिया से परे कोई निहायत अजूबा चीज नहीं। मनुष्य की ऐसी ही विशेषताएँ उसे वर्गगत विशेषताओं की यान्त्रिक इकाई और झूठी विचित्रताओं की असहज तस्वीर होने से बचाती हैं और उपन्यास को एक गहरी संक्रान्त दुनिया के रूप में परिणत करती हैं।

शुक्ल जी साहित्य की अस्मिता और शक्ति की पहचान के केन्द्र में सामाजिक या लोकगत जीवन-यथार्थ को अवश्य रखते थे, किन्तु उनकी दृष्टि बँधी हुई नहीं थी। उनकी खुली दृष्टि सामाजिक या लोकगत जीवन-यथार्थ के किसी निपट बद्ध और रूढ़ रूप से बँधकर नहीं चलती थी। दरअसल वे पश्चिम से आने वाले वादों के कायल नहीं थे। वे अपनी जानी-पहचानी दुनिया के सत्य को अनुभव से पकड़ने और उस पर व्यापक दृष्टि डालने के पक्षपाती थे। इसलिए वे किसी रूढ़ विचारधारा मे फँसे साहित्य का समर्थन करने के स्थान पर अपने अनुभव और चिन्तन के रंग से जुड़े लोकधर्मी साहित्य का समर्थन करते थे, किन्तु साहित्य का इतिहास लिखने की प्रक्रिया में उन्हें सभी तरह के लेखन की पहचान तो करनी ही थी। कथा-साहित्य के सन्दर्भ में भी उन्होंने यह काम किया है यद्यपि सूत्र रूप में किया है। उन्होंने अपने समय में लिखे जाते हुए उपन्यासों के कथावस्तु और लक्ष्य के अनुसार कई भेद देखे। जैसे घटना-वैचित्र्य प्रधान उपन्यास, मनुष्य के अनेक पारिवारिक सम्बन्धों की मार्मिकता पर लक्ष्य रखने वाले उपन्यास, समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों की परस्पर स्थिति और उनके संस्कार चित्रित करने वाले उपन्यास, अन्तःवृत्ति अथवा शील-वैचित्र्य और उनके संस्कार चित्रित करने वाले उपन्यास, भिन्न-भिन्न जातियों और मतानुयायियों के बीच मनुष्यता के व्यापक सम्बन्ध पर जोर देने वाले उन्यास समाज में पाखंड पूर्ण कुत्सित पक्षों का उद्घाटन करने वाले उपन्यास, बाह्य और आभ्यन्तर प्रकृति की रमणीयता का समन्वित रूप में चित्रण करने वाले उपन्यास।

जाहिर है शुक्ल जी ने इन उपन्यासों पर कोई टिप्पणी नहीं की है, केवल सूत्र रूप में उनके स्वरूप की ओर इशारा ही किया है, लेकिन इससे पूर्व वे घटना-वैचित्र्य वाले उपन्यासों के प्रति अपनी नापसन्दगी और सामाजिक यथार्थ तथा शील-वैचित्र्य वाले उपन्यासों के प्रति अपनी पसन्दगी जाहिर कर चुके थे। इससे प्रकारान्तर से संक्षेप में ही सही उनकी इतिहासमूलक पहचान के साथ-साथ आलोचनात्मक दृष्टि स्पष्ट हो चुकी थी। यदि वे विस्तार से लिखते तो शायद और बातें स्पष्ट होती।

मैंने बार-बार शुक्ल जी की दृष्टि के देशीपन की बात उठाई है। यह देशीपन सार्वभौमता या अन्तरराष्ट्रीयता के विरोध में नहीं है, बल्कि जीवन और साहित्य की एक ठोस मूर्त जमीन की पहचान के रूप में है जिसके बिना साहित्य न देशी होता है न सार्वभौमत। अतः अपनी जमीन पर नजर गड़ाए रखने वाले शुक्ल जी ने पश्चिम से आने वाली उपन्यास विधा को देशी सन्दर्भ में फलते-फूलते और विकसित होते देखना चाहा। उन्होंने स्पष्ट कहा, ''इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि

उपन्यास और छोटी कहानी दोनों के ढाँचे हमने पश्चिम से लिये हैं। है भी ये ढाँचे बड़े सुन्दर। हम समझते हैं कि ढाँचे तक ही रहना चाहिए। पश्चिम के भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किए गये वर्गीकरण, उनके सम्बन्ध में निरूपित तरह-तरह के सिद्धान्त भी हम समेटते चलें इसकी कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती। उपन्यासों और छोटी कहानियों का हमारे वर्तमान हिन्दी साहित्य से इतनी अनेकरूपता के साथ विकास हुआ है कि उनके सम्बन्ध में हम अपने कुछ स्वतन्त्र सिद्धान्त स्थिर कर सकते हैं। अपने ढंग पर उनके भेद-उपभेद निरूपित कर सकते हैं।'' अपनी जमीन के साथ साहित्य की गहरी सम्पृक्ति की गहरी समझदारी शुक्ल जी को देश-विदेश के किसी भी रचनाकार मूलक आतंक के मुक्त रखती है और वे बाहर से आने वाली उस बड़ी से बड़ी आँधी के खिलाफ तनकर खड़े हो जाते हैं जिसका हमारी जमीन से कोई सम्बन्ध नहीं होता और बाहर की उन सारी बातों को सहज मन से स्कीकारते भी हैं जिनका सम्बन्ध हमारे अपने परिवेश के साहित्य से जुड़ता है या जिनसे जुड़कर हमारा साहित्य शक्ति पा सकता है। शुक्ल जी ने यूरोप में यथार्थवाद की उठी हुई एक प्रवृत्ति के बारे में टिप्पणी करते हुए लिखा- ''उपन्यासों के भीतर लम्बे-लम्बे दृश्यवर्णनों तथा धारा-प्रवाह भाव व्यंजनापूर्ण भाषण की जो प्रथा पहले थी वह यूरोप में बहुत कुछ छाँट दी गयी, अर्थात् वहाँ उपन्यासों से काव्य का रंग बहुत कुछ हटा दिया गया। यह बात वहाँ नाटक और उपन्यास के क्षेत्र में यथातथ्यवाद की प्रवृत्ति के साथ-साथ हुई। इससे उपन्यास कला की अपनी निज की विशिष्टता निखरकर झलकी, इसमें सन्देह नहीं। वह विशिष्टता यह है कि घटनाएँ और पात्रों के क्रिया-कलाप ही भावों को बहुत कुछ व्यक्त कर दें, पात्रों के प्रगल्प भाषण की उतनी अपेक्षा न रहे। पात्रों के थोड़े से मार्मिक शब्द ही हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव को पूर्ण कर दें। इस तृतीय उत्थान का आरम्भ होते-होते हमारे हिन्दी साहित्य में उपन्यास का यह पूर्ण विकसित और परिष्कृत स्परूप लेकर स्वर्गीय प्रेमचन्द जी आए।'' यूरोप के यथातथ्यवाद के इस स्वस्थ प्रभाव को स्वीकारते हुए भी उसके अतिवादी रूप के खतरे को पहचानने से वे न चूके। उन्होंने एक तो शील वैचित्र्य को यूरोज के अतिवादी ढंग के विपरीत एक स्वाभाविक ढाँचे को व्यक्तिगत विशेषता माना, जिसका संगठन भी प्रकृति के और विधानों के समान कुछ ढर्रों पर होता है और जिसका बहुत सुन्दर रूप प्रेमचन्द के कुछ पात्रों में दिखाई पड़ता है। दूसरे उन्होंने काव्यत्व के अवयव को एकदम यूरोपीय ढर्रे पर निकाल देने का विरोध किया। काव्यत्व हमारा परम्परागत अवयव है इसे यूरोप की नकल पर क्यों निकाल दिया जाए? ''उपन्यास और नाटक दोनों से काव्यत्व का अवयव बहुत कुछ निकालने की प्रवृत्ति किस प्रकार यूरोप में हुई और दृश्यवर्णन, प्रगल्भ भावव्यंजना, आलंकारिक चमत्कार आदि किस प्रकार हटाए जाने लगे हैं, उसका उल्लेख ऊपर कर आए हैं। उसके अनुसार इस तृतीय उत्थान में हमारे उपन्यासों के ढाँचों में कुछ परिवर्तन हुआ। परिच्छेदों के आरम्भ में लम्बे-लम्बे काव्यमय दृश्यवर्णन जो पहले रहा करते थे, बहुत कम हो गये, पात्रों के भाषण का ढंग अधिक स्वाभाविक और व्यवहारिक हुआ। उपन्यास को काव्य के निकट रखवाने वाला पुराना ढाँचा एकबारगी छोड़ नहीं दिया गया।'' शुल्क जी बाहरी प्रभाव के ग्रहण की बात करते-करते

अपनी परम्परा के अवशिष्ट रह जाने की ही बात नहीं करते, बलपूर्वक यह कहना चाहते हैं कि बाहर के स्वस्थ प्रभाव को ग्रहण करने की प्रक्रिया में आँख मूँदकर अपनी परम्परा की अच्छी बातें क्यों छोड़ दी जाएँ? वे आगे कहते हैं- ''छोड़ा क्यों जाए? उसके भीतर हमारे भारतीय कथानक गद्य प्रबन्धों, जैसे कादम्बरी, हर्ष चरित के स्वरूप की परम्परा छिपी हुई है। यूरोप उसे छोड़ रहा है, छोड़ दे। यह कुछ आवश्यक नहीं कि हम हर कदम उसी के पीछे रखें।'' फिर शुक्ल जी यूरोप में नाटक और उपन्यास के काव्यत्व को बाहर निकालने के कारणों क ओर संकेत करते हैं – ''वहाँ जब फ्राँस और इटली के कलावादियों द्वारा काव्य भी बेलबूटे के नक्काशी की तरह जीवन से सर्वथा पृथक् कहा जाने लगा, तब जीवन को ही लेकर चलने वाले नाटक और उपन्यास का उससे सर्वथा पृथक् समझा जाना स्वाभाविक ही था, पर इस अत्यन्त पार्थक्य का आधार प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जगत् और जीवन के नाना पक्षों को लेकर प्रकृत काव्य भी बराबर चलेगा और उपन्यास भी। एक चित्रण और भावव्यंजना को प्रधान रखेगा, दूसरा घटनाओं के संचरण द्वारा विविध परिस्थितियों की उद्भावना को। उपन्यास न जाने ऐसी कितनी परिस्थितियाँ सामने लाते है जो काव्यधारा के लिए प्रकृत मार्ग खोलती है।'' शुक्ल जी की यह टिप्पणी काव्य और उपन्यास की मूल प्रकृतियाँ स्पष्ट करती हुई उनके अन्तसम्बन्धों की बहुत सही पहचान कराती है। प्रेमचन्द से लेकर आज तक के उपन्यासों में उपन्यास और काव्य के सहज अन्तसम्बन्धों को देखा जा सकता है। जहाँ ये अन्तसम्बन्ध सहज और गहरे हैं वहाँ उपन्यास एक अतिरिक्त शक्ति प्राप्त कर उठा है। शुक्ल जी देख रहे थे कि भारतीय यूरोपीय लेखन के प्रवाह में अन्धाधुन्ध बह रहा था। शुक्ल जी सावधान करते हुए लिखते हैं – ''अब यह आदत छोड़नी चाहिए कि कहीं हाड़ी का उपन्यास पढ़ा और उसमें अवसाद या दु:खवाद की गम्भीर छाया देखी तो चट से बोल उठे कि अभी हिन्दी के उपन्यासों को यहाँ तक पहुँचने में बहुत देर है। बौद्धों के दु:खवाद का संस्कार किस प्रकार जर्मनी के शोपन हावर से होता हुआ हाड़ी तक पहुँचा यह भी जानना चाहिए।''

शुक्ल जी पश्चिम से अभिभूत हुए बिना उसकी नवीन प्रवृत्तियों की पहचान करते हैं और भारतीय साहित्य पर उसके प्रभाव का आकलन करते हैं, साथ ही नवीन साहित्य के विधान में अपनी परम्परा के प्रभाव की खोज करने से भी नहीं चूकते। वे नवीन साहित्य को प्राचीन साहित्य से अलगाने वाले सम्वेदनागत या शिल्पगत बिन्दुओं की पहचान भी बहुत सफाई से कर लेते हैं। आधुनिक कथा-साहित्य के शिल्प के बारे में लिखते हुए उन्होंने अपने यहाँ की दो कथा-परम्पराओं को सामने रखा – (1) वृहत्कथा, वैताल पचीसी, सिंहासन बत्तीसी इत्यादि की घटना-चक्र में रमाने वाली कथा-परम्परा, (2) कादम्बरी, माधवानल, कामकन्दला, सीत वसन्त आदि उन ग्रन्थों की परम्परा जो वृत्त-वैचित्र्य पूर्ण होते हुए भी कथा के मार्मिक स्थलों में रमाने वाले आख्यान हैं। प्रथम मे इतिवृत्त का प्रवाह मात्र होता है, पर दूसरी कोटि की कहानियों में भिन्न-भिन्न स्थितियों का चित्रण या प्रत्यक्षीकरण भी पाया जाता है। शुक्ल जी मानते हैं कि आधुनिक ढंग से उपन्यासों और कहानियों के स्परूप का विकास इसी भेद के आधार पर क्रमश:

हुआ है। उन्होंने उपन्यास में काव्यात्मकता बनाए रखने की हिमायत तो की ही, साथ ही उसके स्वरूप-निर्माण में नाटकों के प्रभाव को भी देखा अर्थात् उन्होंने कथा-साहित्य के सन्दर्भ में कई विधाओं के अन्तस्सम्बन्धों की पहचान की और उसे ठीक माना। उन्होंने नाटक के प्रभाव को दिखाते हुए भी कथा-साहित्य की आधुनिक संरचना की अपनी पहचान की ओर संकेत किया।

''इस स्वरूप के विकास के लिए कुछ बातें नाटकों से ली गयीं, जैसे कथोपकथन, घटनाओं का विन्याश-वैचित्र्य, बाह्य और आभ्यन्तर परिस्थिति का चित्रण तथा उसके अनुरूप भाव-व्यंजना। इतिवृत्त का प्रवाह तो उसका मूल रूप था ही, वह तो बना ही रहेगा। उसमें अन्तर इतना ही पड़ा कि पुराने ढंग की कथा-कहानियों में कथा का प्रवाह अखंड गति से एक ओर चलता था जिसमें घटनाएँ पूर्वापर क्रम से जुड़ती सीधी चली जाती थीं पर यूरोप में जो नये ढंग के कथानक नॉवेल के नाम से चले और बंग भाषा में आकर उपन्यास कहलाए, वे कथा के भीतर की कोई भी परिस्थिति आरम्भ में रखकर चल सकते हैं और उसमें घटनाओं की शृंखला लगातार सीधी न जाकर इधर-उधर की शृंखलाओं में गुम्फित होनी चलती है और अन्त में जाकर सबका समाहार हो जाता है। घटनाओं के विन्यास की यही वक्रता वैचित्र्य उपन्यासों और आधुनिक कहानियों की वह प्रत्यक्ष विशेषता है जो उन्हें पुराने ढंग की कथा-कहानियों से अलग करती है।''

शुक्ल जी ने बहुत थोड़े में अपने समय तक ही आधुनिक हिन्दी कथा की सम्वेदनात्मक और संरचनात्मक प्रकृत्ति की बहुत अच्छी पहचान उभारी है, किन्तु एक प्रश्न उठता है कि उपन्यास को जीवन से जुड़ी इतनी सशक्त विधा मानते हुए भी उन्होंने उस पर अलग से कुछ क्यों नहीं लिखा। अलग से लिखना तो दूर रहा, इतिहास में जैसे उन्होंने काव्य पर निबन्ध और नाटक विधाओं का इतिहास लिखने के क्रम में विशिष्ट कृतिकारों और कृतियों का कुछ विस्तार से विवेचन किया, उस तरह कथा-साहित्य के सन्दर्भ में क्यों नहीं किया? जगह-जगह प्रेमचन्द की शक्तियों का उल्लेख करते हुए उन्होंने उन पर अलग से क्यों नहीं लिखा? आधुनिक काल को गद्य काल कहने वाले और गद्य में उपन्यास की आत्यन्तिक शक्ति को स्वीकार करने वाले शुक्ल जी ने कथा-साहित्य पर क्यों नहीं अलग से लिखा या इतिहास में ही प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का क्यों नहीं विस्तार से विवेचन किया, यह एक प्रश्न है? इसे शुक्ल जी का वह अन्तर्विरोध भी कह सकते हैं जिसकी परम्परा आज तक चली आ रही है, यानी आज तक गद्य काल की इस समृद्धि के युग में प्रतिमान की खोज कविता के सन्दर्भ में ही कर रहे हैं। समृद्ध हो रहा है गद्य और चिन्ता बनी हुई है कविता के प्रतिमान है।

---

✧ ✧ ✧

पता : आर–38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली–110059
दूरभाष : 28563587

विजय निकोर जी का जन्म दिसम्बर 1941 में लाहोर में हुआ। 1947 में देश के दुखद बटवारे के बाद दिल्ली में निवास। अब 1965 से यू.एस.ए. में हैं।

1960 और 1970 के दशकों में हिन्दी और अंग्रेजी में कई रचनाएँ प्रकाशित हुईं कल्पना, लहर, आजकल, वातायन, जागृति, रानी, Hindustan Times, Thought, आदि में,..... और अब प्रवक्ता, प्रवासी दुनिया, नव्या, सृजनगाथा, वटवृक्ष, आगमन, साहित्य यात्रा, आदि में प्रकाशित।

कई वर्षों के अवकाश के बाद अब विजय जी लेखन में पुनः सक्रिय हैं और गत कुछ वर्षों में चार सौ से अधिक कविताएँ लिखी हैं। कवि सम्मेलनों में नियमित रूप से भाग लेते हैं।

# विजय निकोर

**अमृता प्रीतम जी से विजय निकोर जी का संपर्क 1963 में आरम्भ हुआ जब वह केवल 21 वर्ष के थे।**

**सन् 2003 में विजय जी के भारत आने पर अंतिम बार अमृता जी से टेलिफ़ोन पर बात हुई थी, और उन्होंने बताया कि वह बहुत कमज़ोरी अनुभव कर रही थीं, "उनसे यह अंतिम संपर्क मेरा सौभाग्य था। क्योंकि मेरे पुनः भारत आने से पूर्व सन् 2004 में उनका स्वर्गवास हो गया था।"**

यह संस्मरण एक उस लेखक पर है जिसने केवल अपनी ही ज़िन्दगी नहीं जी, अपितु उस प्रत्येक मानव की ज़िन्दगी जी है जिसने ज़िंदगी और मौत को, खुशी और ग़म को, एक ही प्याले में घोल कर पिया है.... जिसके लिए ज़िन्दगी की "ख़ामोशी की बर्फ़ कहीं से भी टूटती पिघलती नहीं थी।"

यह संस्मरण उस महान कवयित्रि पर है जो सारी उम्र कल्पना के गीत लिखती रही..... "पर मैं वह नहीं हूँ जिसे कोई आवाज़ दे, और मैं यह भी जानती हूँ, मेरी आवाज़ का कोई जवाब नहीं आएगा।" उसने एक बार फिर ज़िन्दगी से निवेदन किया, "तुम्हारे पैरों की आहट सुनकर मैंने ज़िन्दगी से कहा था, अभी दरवाज़ा बंद नहीं करो हयात / रेगिस्तान से किसी के कदमों की आवाज़ आ रही है।"

इस भूमिका के बाद, अब कह दूँ

कि यह संस्मरण है पंजाब की सर्वश्रेष्ठ लेखिका अमृता प्रीतम से मिलने का, जिनसे मुझको 1963 में मेरी 21 वर्ष की अल्प आयु में कई बार मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। हर कोई शायद उस पड़ाव पर सोचता है कि वह बहुत बुद्धिशाली है, बहुत कुछ जानता है, समझता है, पर मैं समय के माहौल के लिए उपयुक्त नहीं था। मैं दुनियादारी में बहुत भोला था, सरल था और अभी भी हूँ। एक बड़ा अंतर था मुझमें और मेरे हम-उम्र वालों में। उनके लिए ज़िन्दगी हँसी-मज़ाक के लिए थी, मैं भी उनके साथ खेलता था, हँसता था, पर अकेले में उदासी की खाई में उतर कर ज़िन्दगी को परखता था... ऊपर नीचे-आगे-पीछे। अमृता जी से मिलने पर पहली बार ही उन्होंने मेरी इस प्रकृति को पहचान लिया। अमृता जी के लिए उनकी सारी ज़िन्दगी जैसे एक ख़त थी। "मेरे दिल की हर धड़कन एक अक्षर है, मेरी हर साँस जैसे कोई मात्रा, हर दिन जैसे कोई वाक्य, और सारी ज़िन्दगी जैसे एक ख़त। अगर किसी तरह यह ख़त तुम्हारे पास पहुँच जाता, मुझे किसी भी भाषा के शब्दों की मोहताजी न होती।"

मैं उस समय तक अमृता प्रीतम जी की कई पुस्तकें शौक से पढ़ चुका था... 'रंग का पत्ता', 'अंशु', 'एक थी अनीता', 'बंद दरवाज़ा' आदि .... अब धर्मयुग पत्रिका में उनकी एक कविता प्रकाशित हुई जिसके नीचे उनका पता भी लिखा हुआ था... K-25 हौज़ खास, नई दिल्ली। मैं बहुत प्रसन्न हुआ। मैं भी तब नई दिल्ली में ही रहता था, सोचा, कितना अच्छा हो कि यदि उनसे संपर्क हो जाए। अत: एक छोटे-से पत्र में अपना परिचय दे कर उन्हें लिखा कि मैं उनसे मिलने को उत्सुक हूँ।

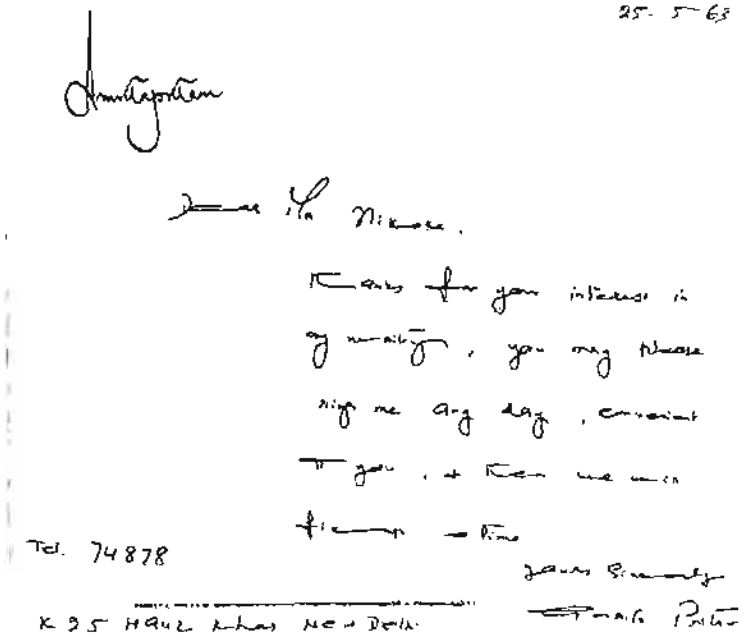

बार-बार संकोच हो रहा था कि वह मुझको, एक 21 वर्ष के अनुभवहीन को, अपना समय क्यूँ देंगी, परन्तु मैं गलत था। हैरान था, विश्वास नहीं हो रहा था जब डाक में मेरे नाम एक लिफ़ाफ़ा आया... यह अमृता जी का पत्र था... दूरभाष नम्बर दिया और कहा कि वह मुझसे मिल सकती हैं। सच? मैं 21 साल का 'बच्चा' मन ही न फूला नहीं सीमा रहा था। खुशी बाँटू तो किस से? मित्रों को तो साहित्य में रूचि नहीं थी.... हाँ, मैंने यह खुशी बाँटी एक ''उससे'' जो अपनी-सी लगती थी, और अपनी भाभी से जिसको मेरी उदास रचनाएँ भी अच्छी लगती थीं। मैं इस ख़त को हाथ में लिए न जाने कितनी बार सीढ़ियों पर ऊपर-से-नीचे-से-ऊपर गया.... जैसे कोई बच्चा हाथ में नया खिलौना लिए मेले में खो जाता है.... खिलौनो की खुशी और खो जाने की चिंता!

भारत में 1963 में घरों में दूरभाष अभी आम नहीं थे। मैं अमीर परिवार से नहीं था, घर में तब दूरभाष नहीं था। लगभग 800 गज़ चल कर बाज़ार में अनाज की दुकान पर दुकानदार को 50 पैसे दे कर उसके दूरभाष से अमृमता जी से बात करी। उन्होंने स्वयं ही उठाया... उनकी आवाज़ सुन कर मैं हैरान ... कि जैसे पल भर को मेरे मुँह में आवाज़ नहीं थी। ''मैं.... मैं..... विजय निकोर'' 1963 थी, 3 जून को मिलना तय हुआ। कहने लगीं, ''कुछ देर से घर पर मज़दूर काम कर रहे हैं, शायद कुछ आवाज़ होगी.... आप बुरा न माने तो...।'' मैं ....? मैं बुरा क्या मानता, मेरे तो पाँव धरती पर नहीं टिक रहे थे। मिलने की प्रत्याशा में इस 21 वर्ष के 'बच्चे' को रातों नींद नहीं आ रही थी। एक-एक पहर भारी हो रहा था।

3 जून की शाम आई और मैं बस पर दिल्ली के 'जंगपुरा' से 'हौज़ खास' गया.... K-25 पर घंटी बजाई तो दरवाज़े पर अमृता जी खुद ही थीं, बैठक में ले गईं बैठने के लिए सोफ़े की ओर संकेत किया। 2 लम्बे सोफ़े थे, सोफ़ा-कुर्सी थी, और तीनों का रंग अलग-अलग था'(इस पर करी बात भी नीचे लिखी है)

अमृता जी स्वयं कुर्सी पर बैठीं। सादी सलवार-कमीज़ चेहरे पर रौनक थी, सुखद मुस्कान थी जो मेरी ''उत्सुक्तावश'' चिंता को दूर कर रही थी। मेरे चेहरे पर उन्हें कुछ दिखा होगा कि उन्होंने कहा, ''आराम से बैठिए, घर की ही बात है''।

पहले थोड़ी इधर-उधर की बात की, और फिर कविता की, उनके साहित्य की...

विजय, ''आप पहले पटेल नगर में रहती थीं न?''

अमृता जी, ''हाँ, हाल ही में आए हैं यहाँ, तभी तो कब से घर पर काम चल रहा है।''

विजय ''आप तो वैसे मुझसे पहली बार मिल रही हैं, लेकिन मुझको लगता है कि मैं आपसे बहुत बार मिल चुका हूँ। जब-जब आपकी कोई किताब पढ़ी, नज़्म पढ़ी, उसकी गहराई बहुत अपनी-सी लगी, कि जैसे उसमें मैं आपको देख रहा हूँ, उसे आपसे ही सुन रहा हूँ।''

अमृता जी ने एक हल्की आधी मुस्कान दी, पलकें झपकीं, कि जैसे उन्होंने मेरी बात को, सराहना को, स्वीकार कर लिया हो।

अमृता – ''आप यहाँ दिल्ली में ही रहते हैं?''

विजय – '' हाँ, माता-पिता यहाँ हैं, मैं 4 साल से इंजिनीयरिंग कालेज में बाहर था, अभी मई में दिल्ली वापस आया हूँ। फ़ाईनल परीक्षा के नतीजे का इन्तज़ार हैं''

अमृता – ''आपने मेरी चीज़ें हिन्दी और अंग्रेज़ी में ही पढ़ी होंगी?''

विजय – '' हाँ, बहुत सारी तो हिन्दी में, और कुछ अंग्रेज़ी में भी। आप तो पंजाबी में लिखती हैं न, तो यह हिन्दी और अंग्रेज़ी में अनुवाद हैं क्या?''

अमृता – ''मैं, जी, Actually तो पंजाबी में ही लिखती हूँ, और कभी-कभी हिन्दी में भी। अंग्रेज़ी की तो सभी translated ही हैं''

विजय – ''धर्मयुग में आपकी कविता अभी हाल में ही पढ़ी थी, जिसमें आपने लिखा है, ''विरह के नीले खरल में हमने ज़िन्दगी का काजल पीसा रोज़ रात को आसमान आता है और एक सलाई माँगता है''

अमृता – ''अच्छा वह !''

विजय – ''उसमें एक चीज़ मेरे लिए Clear नहीं हुई। वहाँ पर आपने 'नीला खरल' कैसे कहा है?''

अमृता – ''वह पंजाबी में इस तरह है जी कि ... आप पंजाबी जानते हैं क्या, तो मैं आपको पंजाबी में ही बताती हूँ।

विजय – ''जी, मैं भी पंजाबी हूँ... बोलता हूँ, समझता हूँ। आप गुजरांवाला से हैं, मेरा परिवार मुल्तान से है ... मैं लाहोर में पैदा हुआ था।''

अमृता – ''अच्छा, फिर तो पंजाबी में ही अच्छी तरह बात कर लेंगे।''

अब वह ''नीले खरल'' पर प्रश्न का उत्तर पंजाबी में देने लगीं। उनके मुँह से पंजाबी सुन कर मुझको बहुत अच्छा लगा, कि जैसे वह मुझको अब कुछ ही देर में ''अपना'' मान रही हैं। उनके चेहरे पर भी मुझको कुछ और सरलता का आभासा हुआ... बहुत सादगी दिख रही थी, उनमें। इतने ऊँचे स्तर पर... इतनी सादगी! उनमें अह्म नहीं दिख रहा था।

अमृता – (पंजाबी में) अनुवाद नीचे दिया है ...'' ए खरल होंदा ए न , जिदे विच ए कुटदे ने, ओ नीले पत्थर दा बंढ़या होंदा ए। ऐ इक बड़ा ई खूबसूरत पत्थर होंदा वे, ते ओदे अंदनर जिवें ज़िन्दगी दा सुर्मा पीसढ़ाँ होवे ... ऐथे ओदी गल कीती ए।

अनुवाद : यह ओखली होती है न जिसमें किसी चीज़ को कूटते हैं, वह नीले पत्थर की बनी होती है। यह एक बहुत ही खूबसूरत पत्थर होता है, तो उसमें जैसे ज़िन्दगी का सुर्मा पीसना हो .... यहाँ उसकी बात करी है।

विजय – ''और आगे आपने कहा, ''रोज़ रात को आसमान आता है और एक सलाई

माँगता है' this gives a beautiful analogy to life!

अमृता – ''पंजाबी में सुनाऊँ?... रोज़ रातीं अम्बर आंदा ए, ते इक सलाई मंगदा ए।''

विजय – '' इतने थोड़े–से शब्दों में आपने ज़िन्दगी की कि–त–नी गहराई दे दी है!

सच, हम विरह को रात को ही ज़्यादा अनुभव करते हैं... नींद के समय ।

अमृता – ''विजय जी आप हिन्दी में लिखते हैं या ...?''

विजय – '' इससे पहले कि मैं आपके सवाल का जवाब दूँ, आप मुझको यह 'आप' कह कर क्यूँ बुला रही हैं? मैं तो आपसे कितना छोटा हूँ... अभी–अभी कालेज खत्म किया है।

अमृता – ''छोटे भले ही हो, पर समझदारी में, ख्यालों में, शक्ल में, अलग किस्म की सचाई उभर रही है, यह समझदारी 21 साल की उम्र में नही लगती।

विजय – ''हाँ तो आपके सवाल का जवाब ... जी, ज़्यादातर तो हिन्दी में लिखता हूँ, और कुछ अंग्रेज़ी में भी (अमृता जी को vuya College magazines देते हुए) यह एक है जो अभी हाल ही में छपी थी। पढ़ कर सुनाऊँ क्या ?

अमृता – ''नहीं छपी हुई है तो मैं खुद ही अच्छी तरह पढ़ लूँगी, ज़्यादा अच्छा लगेगा।''

इस पर अमृता जी ने मेरी रचना को पढ़ कर सुनाय और मुझको भी अपनी रचना उनके मुँह से सुनी ज़्यादा अच्छी लगी। पढ़ते–पढ़ते अंत में उन्होंने रचना के नीचे मेरा नाम ज़ोर से पढ़ा... Vijay Nikore, Electrical Engineering Final Year.

उसी समय उन्हें एक टेलीफ़ोन आ गया घर पर काम चल रहा था न, उसके बारे में। अमृता जी किसी से पंजाबी में कह रही थीं, ''हाँ जी, मरज़ी दा कम कराण लई, पैसे वी ते मरज़ी दे ई देणें पैंदें ने न।'' अनुवाद ''मर्ज़ी का काम कराने के लिए पैसे भी तो मर्ज़ी के ही देने पड़ते है न।''

विजय –''कालेज में मेरे दोस्तों को मेरा लिखना अच्छा नहीं लगता था, उन्हें सिर्फ़ हँसी–मज़ाक चाहिए था न''

अमृता – ''हाँ जी, ऐसा तो होता ही है तो आप लिखते कब थे?''

विजय – ''रात को जब सब सो जाते थे लिखने के लिए बस थोड़ी–सी चिंगारी की ज़रूरत होती है, एक बार शुरू करो तो कलम लिखती ही चली जाती है।''

अमृता ''हाँ, एक बार शुरू हो जाए बस।'' एक और magazine में मेरी रचना 'Knitting Goes On' को ऊँचा पढ़ते हुए, कहने लगीं, ''विजय जी, यह तो बहुत ही seriois है'' कुछ हैरानी, कुछ अधखिली मुस्कान के साथ, कहने लगीं, ''इतनी serious! यह आपके दोस्तों ने, आपके कालेज ने कैसे accept कर ली?''

उसके बाद मैंने उनसे उनकी अपनी कविताएँ पढ़ कर सुनाने के लिए कहा तो कहने लगीं, ''आज आपकी पढ़ेंगे, अगली बार मिलेंगे तो मैं और सुनाऊँगी उनके यह शब्दा मेरे लिए

खाली 21 साल के युवक के लिए कितना मान्य रखते थे (और रखते हैं) मैं यहाँ शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर सकता मुझे लगा कि मैंने नादानी में कोई गलती नहीं करी कि वह खुद ही फिर से मिलने के लिए कह रही हैं। फिर कहने लगीं, ''और कौन सी चीज़ लाए हो?'' इस पर मैंने उन्हें अपनी कविता ''अंगीठी'' पढ़ने को दी, जिसकी अंतिम पंक्ति थी .... 'माँ, और ऐसा भी तो हो सकता है कि किसी दिन इस अंगीठी में मिट्टी कम और कालिख अधिक रह जाए यह पढ़ते ही वह कहने लगीं'', यह तो बहुत ही अच्छी लिखी है पढ़ते-पढ़ते मुझे भी लगा कि इसका अंत आप कुछ ऐसा गहरा ही करेंगे! अब मैं आपकी सोच की गहराई को देख सकती हूँ।''

एक लम्बी साँस लेकर (मुझको लगा मेरी 'अंगीठी' कविता ने उन्हें किसी हादसे की याद दिला दी, पर मैंने उस समय कुछ भी कहना ठीक नहीं समझा) कहने लगीं, ''इतनी छोटी उम्र में ज़िन्दगी का असली अहसास कैसे हो गया?''

विजय - ''यह बात उम्र की इतनी नहीं है, बात अनुभव की अपनी-अपनी प्रकृति की है।''

अमृता - (पंजाबी में) ''आहो, आदमी experience दे नाल बड़ा फ़रक पैंदा ए। ओ ते है, पर ज़िन्दगी दी जेड़ी प्यास होंदी वे, ओदा एहसास बोंताँ नूँ चाली साल दी उमर दे बाद ई होंदा ए''

अनुवाद - ''हाँ, आदमी experience के साथ बड़ा फ़रक पड़ता है ... पर ज़िन्दगी की जो प्यास होती है, उसका एहसास बहुतों को चालीस की आयु के बाद ही होता है।''

विजय - ''मेरे सामने तीन किस्म के लोग हैं जो ज़िन्दगी को अलग-अलग तरीके से देखते हैं एक जो ज़िन्दगी को दूर से देखने में खुश हैं, दूसरे जो ज़िन्दगी से थोड़ा भीग जाते हैं, और तीसरे वह जो ज़िन्दगी को घूँट-घूँट पीते हैं।''

अमृता - ''हाँ, writers, philosophers का तो अपना ही angle होता है। देखने को आपका भी वैसा ही है। उनकी तो अन्दर से आवाज़ आती है, और बाकी तो अपना-अपना तरीका होता है लिखने का जिसे आम दुनिया समझ नहीं सकती।'' और फिर अमृता जी ने मेरी एक और कविता पढ़ी अंतिम पंक्ति थी, 'इस व्यथित जीवन को वही पहचाने जिसने अश्रुजल से प्यास बुझाई हो'

अमृता - ''आपके ख़्याल अच्छे हैं, आपकी नज़्में इतनी अच्छी हैं, इनको रसालों में क्यों नहीं छपवाते?''

विजय - ''अभी तो कालेज में था तो ऐसा सोचा नहीं, कालेज magazines में देता रहा, अब आपने कहा, अच्छी हैं, तो बाहर भी भेजूँगा।''

विजय - ''एक बात पूछूँ? आपको इतना लिखने का वक्त कैसे मिलता है?''

अमृता - ''यही तो मुश्किल है आजकल तो और भी कम मिलता है, घर में contractors काम कर रहे हैं न।''

अमृता जी ने काम करने वाली से चाय और समोसे लाने के लिए कह रखा था। वह बना चुकी थी, अत: rolling cart पर tray में चाय, दूध चीनी और समोसे लाई।

वह चाय प्याले में डालने लगी थी, पर अमृता जी ने उसे मना कर दिया, कहने लगीं 'मैं अपने हाथ से चीनी-दूध डाल कर बनाऊँगी इनके लिए।''

उसी समय अमृता जी का लड़का 'Sally' भी मिलने के लिए कमरे में आ गया।

अमृता - ''यह मेरा बेटा है जी 'Sally'... Higher secondary अभी ख़तम करी है, exam हो रहे हैं.... engineering में जाने के लिए तैयार था, पर अब जाने क्यों अचानक ख़्याल बदल लिया है। Sally, यह विजय हैं, अभी engineering का exam दे कर आए हैं, कहते हैं, बहुत मेहनत करनी पड़ती है।''

Sally - '' अब मैं Duffering से Merchant Navy में जाना चाहता हूँ।

अमृता - ''इसका कल इम्तहान है और आज खेल रहा है। वैसे Baroda Engineering College में इसे आराम से admission मिल जाती, जान-पहचान भी थी, पर अब यह engineering के लिए जाना ही नहीं चाहता।''

मैं Sally से थोड़ी बातें कर रहा था, और अमृता जी ने तब तक प्याले में चाय बना दी और समोसे के साथ मुझको दी। प्यालों को देख कर मुझको अमृता जी के बारे में कुछ याद आ गया और मैंने उनसे पूछा।

विजय - (पंजाबी में) ''तुसीं आजकल multi-coloured cup नईं रखे होए? इक थां ते लिखया सी न तुसीं, तिन रंग दे कप दे बारे विच?''

अनुवाद - ''आपने आजकल multi-coloured cup नहीं रखा है? आपने एक जगह पर लिखा था न तीन रंगों के कप के बारे में?''

अमृता - (पंजाबी में) ''अच्छा ओ! ओ ते सारे ई टुट गये नें।

थुवानूँ इना किदाँ याद रैंदे, कमाल ए!''

अनुवाद - ''अच्छा वह! वह तो सारे ही टूट गए हैं, ''उन्होंने एक बहुत ही उदास लम्बी साँस ले कर कहा, ''आपको इतना कैसे याद रहता है, कमाल है!''

विजय (पंजाबी में) ''इस काला सी, ओ मातम दे लै, फिर पीला, ते तीजा केड़ा सी?''

अनुवाद ''एक काला था, वह मातम के लिए, फिर पीला, और तीसरा, वह कौन-सा था।''

अमृता - (पंजाबी में) ''हाँ जी, काला मातम दा, पीला विरह दा, ते तीजा 'केसरी' ओ शौख़ रंग हौंदा ए। ओ ते सारा ई सैट खतम हो गया ऐ।

Readers दी curiosity appreciate करणी पैयगी इक होर ने वी एदाँ ई क्या सी।

अनुवाद - ''हाँ जी, 'काला' मातम का, 'पीला' विरह का, और तीसरा 'केसरी.... केसरी

'शोख़' रंग होता है। वह तो सारा ही Set खतम हो गया है। Readers की curiosity तो appreciate करनी पड़ेगी, एक और ने भी ऐसे की कहा था।''

विजय – " or, shall I say that you write so nice that you go dep into the hearts of the readers, and they cannot help remembers the details.

और फिर आपने रंगों के Combination तो अभी भी रखे ही हुए हैं (दो सोफ़ा, और एक सोफ़ा–चेयर तीनों अलग–अलग रंग के थे। अमृता जी ने सामने की बिलडिंग दिखाई और कहा, ''वहाँ एक Colonel रहते हैं।''

विजय – ''आपके मकान पर हो रहे काम को देख कर मुझको एक बात याद आ गई है। आपने डॉ० राम दरश मिश्र का नाम सुना होगा, आजकल अहमदाबाद में है''

अमृता – ''हाँ जी, मैं जानती हूँ''

विजय – ''अभी उनकी एक किताब आई है 'बैरंग बेनाम चिठ्ठियाँ' उसमें एक नज़्म है, 'निशान' उसकी आखरी लाईनों में उन्होंने कहा है ।

तुमने जो मज़ाक –मज़ाक में
गीली सीमेंट पर
मुलायम पाँव रख दिया था
उसका निशान ज्यों का त्यों है।

अमृता – ''यह तो बहुत ही अच्छा ख़्याल है''

विजय – '' हाँ जी डॉक्टर मिश्र के कहने का अंदाज़ कुछ और ही है''

अमृता – ''हाँ जी, बिलकुल''

विजय – ''आपने भी तो कहीं पर लिखा था मेरे इश्क के घाव''

अमृता – '' हाँ, अरे, आपको याद है! और फिर अमृता जी कुछ ज़ोर से हँस पड़ीं।

पल–दो–पल की चुप्पी उन्होंने पहलें बंद करलीं जैसे भीतर कुछ इस डस रहा हो, और फिर कहा ''सुनेंगे?'' और उन्होंने वह 'इश्क के घाव' की सारी कविता अपने मुँह सुना दी कैसे कहूँ अमृता जी के संग बीते वह पल कैसे थे, कितने सुनहले कितने मर्मस्पर्शी थे!

अमृता (मेरे हाथ में एक लेख था, पंजाबी कविता पर हरबंस सिंह जी का लिखा) ''वैसे तुसीं पंजाबी Poetry वी पढ़ी ओई ए?''

अनुवाद ''वैसे आपने पंजाबी poetry भी पढ़ी हुई है?''

विजय – ''पंजाबी बोल लेता हूँ। पढ़ना चाहता हूँ पर मुझको गुरमुखी नहीं आती। उर्दु poetry भी अच्छी लगती है मुझको उर्दु पढ़नी नहीं आती, इसलिए उर्दु की किताबें हिन्दी script में खरीदता हूँ। सच में, साहिर लुधियानवी उर्दु के मेरे सब से favourite poet हैं उनमें भी बहुत गहराई

है।

मेरे यह कहते ही अमृता जी ने पलके भींच लीं, और एक अन्तराल के बाद खोलीं, और कहा , ''आओं, बार ज्यादा pleasant ए'' (आईए बाहर ज़्यादा pleasant है) और balcony की ओर संकेत करते हुए वह मुझको balcony पर ले गई और बड़ी देर तक वह सामने के बन रहे मकान को देखती रहीं दो-मंज़िले-तिमंज़िलें मकान के लिए ऊँची scaffolding लगी हुई थी वह चुप मैं भी चुप। कुछ था जो मुझको समझ न आ रहा था। क्या मैंने अनजाने कोई गलती कर दी थी क्या?

मेरा मन अब अचानक तिलमिला रहा था मन भी भारी हो गया था और Scaffolding की ओर संकेत करते हुए मैंने उस कठिन नीरवता को तोड़ा और कहा।

विजय - (पंजाबी में) ''एदाँ क्यों होंदा ए कि मकाना बँड़ जांदे ने, फटे उतर जांदे ने, लेकिन ज़िन्दगीयाँ कदी नीं बँड़दीयाँ ?''

अनुवाद - ''ऐसा क्यों होता है कि मकान बन जाते हैं, फटे उतर जाते हैं, लेकिन ज़िन्दगीयाँ कभी नहीं बनती।''

वह मेरी आवाज़ से पल भर को मानो चौंक गई, और फिर उसी पल संभल भी गई। कहने लगीं।

अमृता - (पंजाबी में) ''ऐ ते जी इक खेड होंदा वे जेड़ा कदी वी पूरी नईयों होंदा...।''

अनुवाद - ''यह तो जी एक खेल होता है .... जो कभी भी पूरा नहीं होता ।''

विजय - ''हाँ जी, मैं भी रोज़ रात को सोने से पहले कहता हूँ कि कल नया होगा, कल मैं नया बनूँगा, पर मुझमें कहीं कुछ नहीं बदलता, सब circumstances बदल जाते हैं। हम नहीं बदलते!''

इसके बाद मैंने अमृता जी से विदा ली, कहा फिर कभी मिलेंगे, उन्होंने भी कहा ''हाँ''

और फिर ''नमस्ते''

''नमस्ते''

बहुत सालों के बाद मुझको आभास हुआ कि मुझसे क्या गलती हुई थी। मुझको अमृता जी और साहिर जी के रिश्ते के बारे में उन दिनों कुछ नहीं पता था, और मैं अनजाने साहिर जी का नाम ले बैठा था, उनकी नज़्मों को favourite कह बैठा था। अमृता जी के मन की गहरी, बहुत गहरी चोट को मैं अनजाने छू बैठा था।

सन् 1963 था मैं 21 साल का था अब ..... अब जैसे ज़िन्दगी बीत गई है।

2004 में अमृता जी जा चुकी हैं, 2012 में उनके लड़के की मुंबई/बोरीवली में उनके अपार्टमेंन्ट में किसी ने हत्या कर दी कितना कुछ ..... कैसे हो जाता है।

---

✧ ✧ ✧

रचनाकार बी.आर.ए. आम्बेदकर विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग के अवकाश प्राप्त प्राध्यापक रहे हैं। प्रो. प्रसाद गम्भीर आलोचक एवं यशस्वी रचनाकार हैं।

# हिन्दी कविता में रहस्यवाद

**प्रो0 (डॉ0) गणेश प्रसाद**

**हिंदी कविता में शुद्ध 'रहस्यवाद' परंपरा और आधुनिकता के दृष्टि सामंजस्य के रूप में उदित हुआ। पूर्व मध्यकाल तक हिंदी में सांप्रदायिक रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। उत्तरमध्यकाल एवं आधुनिक काल की संक्रांति वेला में 'रहस्यवाद' अपनी सांप्रदायिक सीमा से मुक्त होकर आधुनिक चिंतन के परिप्रेक्ष्य में भावात्मकता की रक्षा करते हुए विश्वात्मा' के अन्वेषण की ओर अग्रसर हुआ। आधुनिक काल में तो 'रहस्यवाद' व्यापक चेतना से व्यष्टिगत चेतना की एकता के रूप में काव्य में प्रतिष्ठित हुआ।**

आत्मा-परमात्मा के अभेद की अनुभूति और अव्यक्त परोक्ष के प्रति आत्मनिवेदन 'रहस्यवाद' की मूल तात्त्विकता है। ''अपनी अन्तःस्फुरित अपरोक्ष अनूभूति द्वारा सत्य, परम तत्त्व अथवा ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति 'रहस्यवाद' है। यह प्रवृत्ति मनुष्य की प्रवृत्ति का एक अवियोज्य अंग रही है और रहस्यानुभूति संभवतः मनुष्य की श्रेष्ठतम एवं उदात्ततम अनुभूति है। .....'रहस्यवाद' उतना ही पुरातन है जितनी स्वयं मानवता।'' (आत्मारामशाह) 'रहस्यवाद' असीम की अनुभूति को अभिव्यक्त करने की एक रचनात्मक प्रणाली है। प्रकृति की विराटता के संपर्क में जिज्ञासा-जनित अभिभूतता रहस्यवाद की जननी है। यह प्रत्यक्ष से मुक्त अपरोक्ष सत्ता के प्रति उदात्त समर्पण की अभिव्यक्ति है जिसमें प्रत्यक्ष से उदात्त पलायन और परोक्ष के आनंदपूर्ण सान्निध्य की अपूर्वता होती है। 'रहस्यवाद' अलिक्षत-अज्ञात को अपने भीतर उतार लेने की व्यग्रता है; उसे शब्दों और सुरों में बाँध लेने की छटपटाहट है; 'रहस्यवाद' वास्तव में परोक्ष-जनित आनंद-धारा में निमज्जित होने का आस्थापूर्ण संकल्प है।

भारतीय वाङ्मय में 'रहस्य' शब्द

तो मिलता है, पर 'रहस्यवाद' शब्द नहीं मिलता। वास्तव में 'रहस्यवाद' शब्द अँगरेजी शब्द 'मिस्टिसिज्म' (Mysticism) का पर्याय हैं रहस्य (Mystry) को आधार बनाकर लिखी गई कविताएँ हिंदी में रहस्यवादी कविताएँ कहलाईं।

'रहस्य' का शाब्दिक अर्थ होता है – गोपनीय विषय, मर्म भेद तथा दुर्बोध तत्त्व। लोक और प्रत्यक्ष से परे अलौकिक एवं अप्रत्यक्ष 'रहस्य' के अंतर्गत आता है। ''लौकिकता से विमुख होकर जब किसी अज्ञात रहस्यमय अलौकिक शक्ति के प्रति राग, उत्सुकता, विस्मय, जिज्ञासा, लालसा एवं मिलनानुभव व्यक्त किया जाता है तब उस अनुभववेद्य अवस्था को रहस्यानुभूति की अवस्था कहते हैं। इसे दिव्यानुभूति भी कह सकते हैं क्योंकि उसका संबंध अलौकिक शक्ति से होता है।'' (आनंदप्रसाद दीक्षित)

अज्ञेय, अलौकिक या अप्रत्यक्ष से संपर्क साधने या उसके स्परूप की गुत्थी सुलझाने के दो साधन होते हैं– ज्ञान और राग। ज्ञानी अपनी साधना के द्वारा 'रहस्य' का स्परूप प्रस्तुत करता है तथा अनुभूतिप्रवण उसे अपने निवेदन और रागानुभव के द्वारा अभिव्यक्त करता है।

**'रहस्यवाद' की विभिन्न परिभाषाएँ :**

'रहस्यवाद' के संबंध में हिंदी के विभिन्न विद्वानों की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं:

- चिंतन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना के क्षेत्र में वही 'रहस्यवाद' हैं'' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल)
- ''व्यष्टि सौंदर्य-दृष्टि 'छायावाद' है और समष्टि सौंदर्य-दृष्टि 'रहस्यवाद''। (आचार्य नंददुलारे वाजपेयी)

'' 'जीव' तथा 'परम' के विभेद-शमन की स्थिति में 'जीव' की परम अलौकिक रागात्मक अभिव्यक्ति 'रहस्यवाद' की आधारशिला है।'' (डॉ. गणेश प्रसाद)

**हिंदी काव्य में रहस्यवाद का विकास :**

हिंदी कविता में शुद्ध 'रहस्यवाद' परंपरा और आधुनिकता के दृष्टि सामंजस्य के रूप में उदित हुआ। पूर्व मध्यकाल तक हिंदी में सांप्रदायिक रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। उत्तरमध्यकाल एवं आधुनिक काल की संक्रांति वेला में 'रहस्यवाद' अपनी सांप्रदायिक सीमा से मुक्त होकर आधुनिक चिंतन के परिप्रेक्ष्य में भावात्मकता की रक्षा करते हुए विश्वात्मा' के अन्वेषण की ओर अग्रसर हुआ। आधुनिक काल में तो 'रहस्यवाद' व्यापक चेतना से व्यष्टिगत चेतना की एकता के रूप में काव्य में प्रतिष्ठित हुआ।

आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि हिंदी काव्य में यूरोपीय 'रहस्यवाद' रवींद्रनाथ ठाकुर के माध्यम से आया। 'रहस्य' से जुड़ा 'रहस्यवाद' वाद (Ism) के रूप में निश्चित रूप से पाश्चात्य साहित्य से प्रभाव में आया है। ऐसे परोक्ष के साथ रागात्मक संबंध की अभिव्यक्ति भारतीय वाङ्मय में कोई नई चीज नहीं है। फिर भी प्राचीन और अर्वाचीन 'रहस्यवाद' में परिवेशगत हलचलों की रेखाएँ साफ देखी जा सकती हैं। प्राचीन भारतीय वाङ्मय के 'रहस्यवाद', में सरल

जिज्ञासा परिलक्षित होती है; यही जिज्ञासा आधुनिक काल में बौद्धिकता के आवरण में लिपटी हुई है। तांत्रिक बौद्धों और नाथ पंथियों के 'योगमार्ग' में साधनात्मक 'रहस्यवाद' की पराकाष्ठा है। ऐसा 'रहस्यवाद' कविता का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें संवेदना, कल्पना और कविता की आंतरिक संरचना का सर्वथा अभाव होता है। पर, हठयोग की समाधि 'जब सहज समाधि में परिवर्तित होकर अन्तर्मन में सहज ही 'साईं' के दर्शन करा देती है तब वहाँ कविता अपनी संपूर्ण संरचनात्मक भव्यता और आंतरिक मधुर-मादक तारल्य के साथ उपस्थित हो सकती है। हिंदी के संत साहित्य में इसके प्रचुर प्रमाण सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। कबीरदास, धर्मदास, धरणीदास, नानक, सहजोबाई, दादूदयाल, रैदास, मलूकदास, सुंदरदास, धन्ना, अक्षरअनन्य, सैन, पीपा आदि संतों की वाणी जहाँ प्रेमरस में भीगी है, वहाँ कविता अवश्य उपस्थित हुई है।

आदिकाल में अमीर खुसरो की अनेक कव्वालियों में भावात्मक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति हुई है। जैसे :

''बहुत कठिन है, डगर पनघट की / कैसे भर-भर लाऊँ जमुना से मटकी।''

छाप तिलक तज दीन्ही रे, मोसे नैना मिला के

खुसरो निजाम पे बलि-बलि जाइए, मोहे सुहागिन

किन्हीं रे, मोसे नैना मिला के!!

हिंदी कविता के क्षेत्र में कबीर ही ऐसे प्रथम कवि हैं जिनमें साधनात्मक एवं भावात्मक, दोनों प्रकार की रहस्यवादी उक्तियाँ प्राप्त होती हैं। 'निगुणोपासक' संत कवि संवेदना के रस-तारल्य से वंचित नहीं हैं। इनके 'रहस्यवाद' में वेदांत के तत्त्वचिंतन के साथ इनकी अपनी-अपनी अनुभूति का सार्थक समावेश भी हुआ है।

कबीर कहते हैं :

''आतम अनुभव ज्ञान की जो कोई पूछै बात / सो गूँगा गुड़ खाइ कै कहै कौन मुख स्वाद।।'' उपनिषद् में भी कहा गया है: ''समाधि निर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत।। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते।''

कबीर कहते हैं कि जीव बूँद है, इसे ब्रह्मरूपी समुद्र में विलीन हो जाने पर खोजना कठिन है।

''हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हेराय। / बूँद समानी समुंद्र में सो कत हेरी जाय।।''

कुण्डलिनी जाग्रत होने पर जीवात्मा सहस्रार चक्र तक पहुँचकर परमानंद की प्राप्ति करती है। कबीर इस तथ्य को प्रतीकों के द्वारा व्यक्त करते हैं।

''समुन्दर लागी आग, नदियाँ जलि कोयला भईं। / देख कबीरा जाग, मंछी रुखा चढ़ि गई।।''

कबीर या दूसरे संत कवियों ने 'समाधि' के आनंद के समानांतर 'सहज' के आनंद को खड़ा कर अपार्थिव और पार्थिव का जो समन्वय प्रस्तुत किया है, वह अद्‌भुत है। इन संतों की मान्यता है कि हठयोग से प्राप्त आनंद को प्रेम की साधना से सहज ही प्राप्त किया जा सकता है।

''निर्गुण सगुण का प्रतिद्वंद्वी शब्द है, अत: कभी-कभी वह पूर्ण व्याप्ति देनेवाले असीम तथा निर्विशेष की भावना तक पहुँचने में कुछ शिथिल-सा लगने लगता है। ऐसी स्थिति में परात्पर का भाव जागरित होता है और तब कबीर कह बैठते हैं :

''निर्गुण सगुण से परे तहाँ हमारा ध्यान।'' अथवा, ''नहिं निरगुन नहिं सरगुन भाई नहिं सूक्ष्म अस्थूल।''

कबीर ने ''ब्रह्म से अपना मानसिक संबंध जोड़ा। ब्रह्म गुरू, राजा, पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूप में है। पति का रूप मानने पर आत्मा उसकी प्रेयसी बन जाती है। इसी प्रियतम और प्रेयसी के संबंध में जो दाम्पत्य प्रेम लक्षित हुआ है, उसी में कबीर के रहस्यवाद (भावात्मक) की सृष्टि हुई।'' कुछ उदाहरण:

- नैनों की करि कोठरी पुतली पलंग बिछाया / पलकों की चिक डारि के पिय को लिया रिझाय।।
- ''आँखड़िया प्रेम कसाइयाँ, लोग जाने दूखाड़िया / साईं अपने कारणें रोइ रोइ रातड़िया।।''
- ''हरि मोर पीव भाइ हरि मोर पीव / हरि बिनु रह न सके मोर जीव ।।''
- ये अँखियाँ अलसानी हो, पिया की सेज चलो। / पकरि खंभ पतंग अस डोलै, बोले मधुरी बानी। फूलन सेज बिछाइ जो राखी, पिया बिनु कुम्हलानी / धीरे पाँव धरौ पलँगा पर, जागत ननद जिठानी / कहत कबीर सुनो भाई साधो, लोक-लाज बिछलानी।

कबीर का भावात्मक रहस्यवाद दाम्पत्य जीवन की अनुराग-वीथियों से माधुर्य तथा सुवास लेकर पुष्ट हुआ है, अत: यह सहज ही किसी को भी अपने आकर्षण के जादू से विमुग्ध करने में समर्थ है। कबीर साहित्य में भावात्मक रहस्यवाद के समस्त स्थल उच्चकोटि के काव्य के प्रमाण हैं। कबीर की अद्वैतवादी दार्शनिक उद्घोषण जब भावात्मक सुरों में अभिव्यक्त होती है, तब वहाँ श्रेष्ठ काव्य का अमृतवत आभामण्डल निर्मित हो जाता है जिसमें भावक का चित्त पूर्णत: निमज्जित होकर कृतकृत्य हो उठता है।

'जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर-भीतर पानी।

फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तथ कहयो ज्ञानी।' कबीर का यह दार्शनिक उद्घोष इनकी अपनी अनुभूति-प्रक्रिया की फलश्रुति है। उनकी अनुभूति-प्रक्रिया है:

'प्रिय ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली। / भीजै चुनरिया प्रेमरस

बूँदन आरती सजा के चली है सुहागिन, अपने पिय को ढूँढन।'

मीराबाई के भावात्मक रहस्यवाद में कोई रहस्य नहीं है, उसमें एकदम खुलापन है। वे ''प्रभु को 'पतिवरता' की सेज पर पधारने का आमंत्रण देती है। उनके स्वागत में कुलवधू की तरह शृंगार करती हैं। उन्होंने गोविंद से लुक-छिपकर प्रेम नहीं किया था, बल्कि उन्हें ढोल बजाकर, प्रेम देकर मोल लिया था।'' (डॉ० बच्चन सिंह)

मीराबाई के भावात्मक रहस्यवाद जीवन-संघर्ष के योग और उसकी प्रतिक्रिया में कृष्ण

के प्रति समर्पण और आस्था की वास्तविक धरती से अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुआ है। वे कृष्ण की 'दिवाणी' हैं।

'हेरी म्हा तो दरद दिवाणी, म्हाराँ दरद ने जाण्याँ कोय।

घायल री गत घायल जाण्याँ हिवड़ो अगण सँजोय।।'

जैसे मर्म को छुनेवाले अनेक पद मीरा ने गाए हैं। वे नारायण की 'पतिवरता' पत्नी हैं, दासी हैं, जोगी की जोगिन हैं वे संप्रदायगत भक्ति का पाथेय लेकर प्रेम की साधना के मार्ग पर आरुढ़ हैं। उनका भावात्मक रहस्यवाद अतिरंजनापूर्ण स्वच्छंदता का पोषक न होकर प्रगाढ़ प्रेम की मर्यादा का पोषक है जिसमें पारिवारिक-सामाजिक जड़ताएँ तड़ककर टूट जाती हैं। नारी होने के चलते उनके समर्पण में निश्छल करुणार्द्रता है, और इसीलिए उनकी भक्तिभावना पारदर्शी रहस्य का घूँघट निर्मित करती है जिससे उनके राग-रँजित दोनों नयन मतवाली मुद्रा में अहर्निश डोलते-से दृष्टिगोचर होते हैं।

सगुण भक्त हों या निर्गुण भक्त, सभी भक्ति के माध्यम से परात्पर के 'रहस्य' के उद्‌भेदन एवं उसके विशदीकरण में तत्पर दिखाई पड़ते हैं ताकि जनचेतना कालुष्य मुक्त हो सके और लोक कल्याण के लिए सहज रूप से आदर्श मार्ग का निर्माण हो सके। प्रेममार्गी शाखा के निर्गुण भक्त कवियों ने प्रेमाख्यानक काव्योह के द्वारा जीव और आत्मा के तादाम्य का आकर्षक तथा मार्मिक चित्रण किया है। 'पद्‌मावत' में पद्‌मावती ब्रह्म की सौंदर्य शक्ति के रूप में चित्रित हुई है। उसके सौंदर्य का ही बिंब सारी सृष्टि में प्रच्छायित है।

जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतह जोति जोति ओहि भई।

रवि ससि नखत दीन्हि ओही जोती। रतन पदारथ मनिक मोती।।

जहँ जहँ विहँसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परमसी।।

दामिनि दमकि न सखरि पूजा। पुनि ओहि जोति और का दूजा।।

जायसी घोषणा करते हैं :

आपुहि खोए पिउ, मिलै, पिउ खोए सब जाइ।

देखहु बूझि विचारि मन, लेहु न हेरि हिराइ।।

'रीतिकाल' के अधिसंख्य कवियों की मनोवृत्ति भोगपरक थी। भोग ही उनके जीवन का लक्ष्य था। पर, इस काल में कुछ ऐसे भी भक्त कवि हुए हैं जिन्होंने भक्ति के सह आवेग में सरस काव्य- रचना की और लोक जीवन में ईश्वर के प्रति आस्था एवं समर्पण का भाव पैदा किया।

आधुनिककालीन कविता में 'रहस्यवाद' वेदांत के प्रतिबिंबवाद का पर्याय नहीं है, यह प्रत्यक्ष प्रकृति के संदर्भ में उसकी विराटता की अनुभूति से अलक्षित के प्रति समर्पित अभिव्यक्ति की एक विशिष्ट भंगिमा है। 'छायावाद' के सभी कवियों में यह भंगिमा किसी-न-किसी रूप में अवश्य वर्तमान है।

छायावाद काल में यथार्थ और आदर्श का, इतिहास और मिथक का, वर्तमान और अतीत

का तथा वास्तविकता और अध्यात्म का द्वंद्व था। वास्तविकता और अध्यात्म के द्वंद्व ने छायावादी कवियों को 'रहस्यवाद' की ओर प्रवृत्त किया। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा के काव्य-विकास को इस द्वंद्व के आधार पर मूल्यांकित किया जा सकता है।

महादेवी वर्मा के काव्य में 'रहस्यवाद' की पूर्णता है। इनकी काव्य-यात्रा सीधी है, मार्ग कहीं मुड़ा नहीं है, पर प्रतीकों की योजना इनकी रचनाओं अर्थ-वैचित्र्य का रंग और स्वाद अवश्य भरती चलती है। इसीलिए इनकी विरहानुभूति और तपड़ जितनी उनकी अपनी हैं, उतनी ही पूरी नारी-जाति के लिए भी है।

महादेवी वर्मा के काव्य का 'रहस्यवाद' उस चेतन का क्रंदन है जो काल और दिक् की सीमा में बँधकर अपनी मुक्ति के लिए व्यग्र है। प्रकृति की विराटता उनके भीतर महाचिति के भ्रूविलास का कुछा ऐसा अद्भुत और अलौकिक रंग चर्चित करती है कि वे अपने दाम्पत्य जीवन की अतृप्त लालसा की पूर्ति के लिए मचल उठती हैं। उनकी आत्मा अज्ञात प्रियतम के लिए तपड़ उठती है। लोक अनुभूतियों के साथ रमणीय कल्पनाधृत लोकोत्तर अनुभूमियाँ उनके काव्य में जिस धूप-छाँह का सौंदर्य उड़ेलती हैं, वह भावक के चित्त में ग्राह्य-अग्राह्य के द्वंद्व के बूझ-अबूझ का आस्वाद भरने में समर्थ है।

महादेवी वर्मा के काव्य में रहस्यानुभूति के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। मिलन की इच्छा, स्मरण, स्वप्न, विरह आदि उनकी रहस्यानुभूति के विविध चरण हैं। उनकी रहस्यानुभूति में उनका आत्माभिमान सांध्यतारा की तरह अपनी विभा बिखेरता-सा प्रतीत होती है। वे अपने प्रियतम से कहती हैं:

भिक्षुक से फिर जाओंगे, जब लेकर यह अपना धन।
करुणामय तब समझोगे, इन प्राणों का महँगापन।
चिंतन क्या है निर्मम! बुझ जाए दीपक मेरा।
हो जाएगा तेरा ही पीड़ा का राज्य अँधेरा।
उनसे कैसे छोटा है, यह मेरा भिक्षुक जीवन।
उनमें अनंत करुणा है, इसमें असीम सूनापन।

कहना नहीं होगा कि 'लघु' के स्वाभिमान की रक्षा का यह भाव आधुनिक दृष्टि और बोध के प्रभाव में आया है। ''व्यापक चेतना से व्यष्टिगत चेतना की एकता की भावना ने पुरानी रहस्य-प्रवृत्ति को नया रूप दिया। ''(महादेवी वर्मा, मेरे प्रिय निबंध, 'छायावाद' शीर्षक) महादेवी वर्मा के काव्य में ही नहीं, अपितु समग्र छायावादी काव्य में जहाँ कहीं रहस्यानुभूति का चित्रण है, वहाँ मानवता की चिंता उपेक्षित नहीं है। मानवता की पुकार पर ही महादेवी वर्मा अपनी वेदना के बाहर झाँकने को विवश हो जाती हैं।

कह दे माँ अब क्या देखूँ? देखूँ खिलती कलियाँ या प्यासे सूखे
अधरों को / तेरी जर्जर सुषमा या जर्जर जीवना देखूँ?

किसी आलोचक ने महादेवी वर्मा की रहस्यानुभूति के संबंध में यह सही टिप्पणी दी है – ''महादेवी वर्मा प्रकृति-व्यापार में एक विराट् सत्ता के दर्शन करती हैं और उसके साथ रहस्यात्मक-रागात्मक संबंध स्थापित करने को आतुर रहती हैं। किंतु, उन्हें यथार्थ-विरोधी रहस्यलोक में ही रहना कभी स्वीकार नहीं हुआ वह अपनी संवेदनाओं को शोषित-उपेक्षित वर्ग से जोड़कर चलीं। उन्होंने अपने युग की मुक्ति की आकांक्षा को अपनी रहस्यानुभूति में स्थान दिया। यह मुक्ति उनके लिए नारी-मुक्ति भी थी।''

महादेवी वर्मा का रहस्यवाद मध्ययुगीन रहस्यवाद की तरह न तो सांप्रदायिक है और न किसी धार्मिक मतवाद से प्रेरित। यह हृदय और बोध के सामंजस्य से सृष्ट है।

''तुम मुझमें प्रिय! फिर परिचय क्या ?

चित्रित तू, मैं हूँ रेखा क्रम मधुर राग तू, मैं स्वर-संगम,

तू असीम मैं सीमा का भ्रम, काया-छाया में रहस्यमय!

प्रेयसि-प्रियतम क अभिनय क्या।''

विराट् के प्रत्यक्ष आसंग में उत्पन्न जिज्ञासा किसी अपरोक्ष महाशक्ति की कल्पना करने लगती है और उसके प्रति उपकृत विनम्रता से समर्पित हो जाती है। यही 'रहस्यवाद' के उदय का सात्त्विक आधार है। छायावाद के सारे कवियों की रहस्यवादी रचनाओं में यही आधार प्रमुख है। 'प्रसाद' की 'कामायनी' में एक ऐसा ही प्रसंग चित्रित है। जल-प्रलय के पश्चात् उषा के विहसते आलोक में प्रकृति के मनोज्ञ-रुचिर रूप को निहारकर मनु के हृदय में अनंत सत्ता का अनुभव होता है।

''हे अनंत रमणीय ! कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता।

कैसे हो ? क्या हो? इसका तो भार विचार न सह सकता।

हे विराट्! हे विश्वदेव! तुम कुछ हो ऐसा होता भान।''

'पंत' की 'एक तारा', 'नौका विहार', 'चाँदनी' मौन निमंत्रण', 'तारा गीत', 'ओस गीत', 'विहग गीत' आदि कविताओं में रहस्य भावना की अभिव्यक्ति हुई है।

''जगमग जगमग नभ का आँगन लद गया कुंद कलियों से घन।

वह आत्म और यह जग-दर्शन।'' ('एक तारा')

''इस धारा-सा ही जग का क्रम शाश्वत इस जीवन का उद्गम।

चिर जन्म-मरण के आर-पार शाश्वत जीवन नौका विहार। (नौका विहार)

''यह श्रेय की बात है कि युगधर्म के भौतिक, सामाजिक और नैतिक पहलुओं के साथ 'पंत' का काव्य आध्यात्मिक चेतना के सूत्र भी समानांतर लेकर चलता है और इस प्रकार उनका जीवन-चिंतन एकांगी न रहकर संतुलित और परिपूर्ण बन जाता है।'' (डॉ. रामरतन भटनागर) 'पंत' का 'रहस्यवाद' मन, जीवन और यथार्थ के स्तर पर चेतना के उपभोग से जुड़ा है। इनके

'रहस्यवाद' में वैयक्तिक मोक्ष की अपेक्षा समष्टि मोक्ष का महत्त्व है। 'निराला' की तुम और मैं शीर्षक कविता में ('परिमल' में संगृहीत) अद्वैत दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है।

तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल गति सुरसरिता।

तू विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कांत कामिनी कविता।

तुम रण-ताण्डुव उन्मद नृत्य, मैं मधुर-मधुर नूपुर ध्वनि।

तुम नाद वेद ओंकार सार, मैं कवि शृंगार शिरोमणि।

'निराला' ने ईश्वर को मुख्यत: माता, प्रभु और प्रियतम के रूप में देखा है। अत: उनकी कविताओं में दास्य और माधुर्य भाव ही प्रधान है।... फिर भी माधुर्य भावना का उद्रेक होने पर वह प्रियतम के वियोग में रो उठता है:

'प्राण धन को स्मरण करते / नयन झरते, नयन झरते।' ('कवि 'निराला' की वेदना तथा अन्य निबंध', विष्णुकांत शास्त्री)

भावात्मक रहस्यवाद के अनेक गीत 'निराला' के 'गीतिका' और 'अर्चना' काव्य-संग्रह में संगृहीत हैं।

तुम चले गए हो प्रियतम, हृदय में प्रिय छवि नहीं ली।

व्यर्थ ऋतु के दृश्य, व्यर्थ ही यह रचना रसीली।

बरसने को गरजते थे वे न जाने किस हवा से,

उड़ गए हैं गगन में घन, रह गए हैं नयन प्यासे,

उड रही है धूल धाराचार धरा न होगी गीली।

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा? स्तब्ध दग्ध मेरे मरु का तरु / कया करुणाकर खिल न सकेगा? मेरे दु:ख का भार झुक रहा, इसीलिए प्रति चरण रुक रहा / स्पर्श तुम्हारे मिलन का क्या / महाभारत यह झिल न सकेगा?

हिंदी साहित्य में 'रहस्यवाद' (भावात्मक) का विकास लगातार 'छायावाद' युग तक होता रहा। काव्य में विज्ञानवाद और मनोविज्ञान के पदार्पण के कारण 'छायावाद' के बाद हिंदी साहित्य में भावात्मक 'रहस्यवाद' का विकास लगभग ठप् पड़ गया। इस प्रवृत्ति की कहीं धड़कन सुनाई पड़ती भी है, तो वह सहज नहीं, कृत्रिम है - यंत्र-प्रेरित।

---

✧ ✧ ✧

**स्थानीय पता** : सुभाष नगर, रोड नं0–2, पत्रालय–न्यू जगनपुरा द्वारा लोहिया नगर, पटना–27
मो0 : 9801574049

लेखिका, समकालीन पत्र–पत्रिकाओं में विपुल लेखन, लोक साहित्य विमर्श में अभिरूचि। सम्प्रति हिन्दी विभाग, रामलाल आंनद महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं।

# स्त्री कविता : विमर्शों से परे

डॉ. श्रुति आनंद सिंह

**कविता के क्षेत्र में स्त्रीवाद की धमक और पैठ के विचारणीय बिंदु भी लगभग ऐसे ही हैं जैसे- देह की स्वतंत्रता, सामाजिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता, मानसिक स्वतंत्रता, राजनीतिक स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता, भाषिक स्वतंत्रता आदि।**

आज साहित्य रचने, परखने और व्याख्या करने के कई विमर्शगत विकल्प हमारे सामने हैं – स्त्री विमर्श भी ऐसा ही एक विकल्प है।

इस विमर्श का आधार-सामाजिक रूप से स्त्री की पुरूष से निम्नतर स्थिति की धारणा है। इस विमर्श का कार्यक्षेत्र सामान्य चिंतन से लेकर, साहित्यिक रचना, नीतिगत क्रियाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं में पुरूषवर्चस्ववाद का विरोध है। और स्वयं विरोध को संभव बनाने वाली भाषा की खोज भी है।

कविता के क्षेत्र में स्त्रीवाद की धमक और पैठ के विचारणीय बिंदु भी लगभग ऐसे ही हैं जैसे- देह की स्वतंत्रता, सामाजिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता, मानसिक स्वतंत्रता, राजनीतिक स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता, भाषिक स्वतंत्रता आदि।

प्रश्न अब यह उठता है कि ऐसी विचार सरणियों से 'कला-कला के लिए' या 'कला मनुष्य के लिए' जैसे शाश्वत सवालों पर चर्चा हो सकती है। उनको जीवित रखा जा

सकता है या किसी राजनीतिक माँग के तहत खारिज कर बंद भी कर दिया जा सकता है लेकिन स्त्री-विमर्श जैसी विचार सारणी के साथ भी ऐसा ही सुलूक संभव नहीं है। यदि इसे संभव बनाया जा रहा है तो इसके पीछे मंशा क्या है?

लगभग इसी तरह जब एक युग्म-शब्द की तरह स्त्री-विमर्श के साथ दलित-विमर्श को भी पढ़-बोलकर जोड़ दिया जाता है तो बड़ा दुख होता है क्योंकि दलित-विमर्श जिस सचेतन या अवचेतन अनुभव पर आधृत विमर्श है और जिस बड़ी राजनीति से उत्प्रेरित चर्चा है स्त्री विमर्श के सवाल ठीक वैसे ही संबोधित नहीं किए जा सकते। दलित-विमर्श के पास जाति-रहित समाज का जैसा सीधा, संरचनागत स्वप्न है क्या स्त्री-विमर्श वर्तमान समाज का वैसा ही विकल्प दे पाता है?

मेरा मानना है कि स्त्री-विमर्श या इससे संबंधित विमर्श के प्रभाव में आने से पूर्व हमें अपनी जीवन-परंपराओं के प्रकाश में और उनके बक्सर बार-बार सवाल खड़े करना चाहिए। क्योंकि बीसवीं सदी के अस्मिता मूलक विमर्शों में यही सबसे अधिक मूलगामी और सार्वभौमिक रहा है।

क्योंकि सदी के अस्मिता मूलक संघर्षों से स्त्री चेतना से उपजी इस लड़ाई की कई चुनौतियाँ अपने घर में ही इसे हरा देती हैं। और क्योंकि यह जितना बाह्य स्तर पर संघटित हुआ है उतना ही आंतरिक स्तर पर भी।

हमें यह भी देखना चाहिए कि पश्चिमी फैमिनिस्ट आंदोलनों की प्रतिपत्तियाँ भारतीय समाज के लिए जब चुनौतियाँ फेंकती हैं तो कहीं वह स्त्री के वास्तविक, आधारभूत मुक्ति-संघर्ष को उलझाने का ज़रिया तो नहीं?और जब पढ़ी-लिखी हिन्दी, हिन्दीत्तर विषयों की विदूषियाँ या विदूषक स्त्री अनुभव की प्रामाणिकता अथवा स्त्री भाषा की आनुभविकता की खोज के लिए समाज/जीवन से असंपृक्त मुहावरों, जुमलों या टर्म्स का प्रयोग करते हैं तो वे एक किस्म की सेफ्टी वाल्व संकल्पना के तहत सामाजिक प्रक्रियाओं का समर्थन तो नहीं करते। कविता जगत को इससे सावधान रहना होगा खासतौर पर तब जब कवि समाज इसमें संलग्न हों।

यह भी देखना होगा कि रचनाओं में रचनाधर्मिता, काव्य-व्यापार और रचना-प्रक्रिया पर विवादकाम्य टिप्पणियों की निर्लज्ज आपा धापी किसी अदृश्य महत्वाकांक्षा को सूचित तो नहीं करती? जिससे जाने-अनजाने हर अधपके विचार को मान्यता देना बड़े-बड़े विद्वानों की धर्मनिरपेक्षता के लिए अनिवार्य हो उठा है।

मेरी चिंता है कि स्त्री-कविता जो बमुश्किल सदियों बाद घर की चार दिवारी से निकल कर गली में आई है व्यवस्था के बड़े घड़ियालों के जाल में न फँस जाए। आलोचना के पापुलर क्षेत्रों

की खोज में कही वह सहज-सहज पकते लोकतांत्रिक स्पेस को न ठोकर मार दे।

**स्त्री-कविता के इस लोकतांत्रिक स्पेस की सबसे पहली पहचान है कि स्त्रीत्व का बोध अब उसमें किसी कुंठा को जन्म नहीं देता।** क्रियाओं में उसका लिंग बोध और अभिव्यक्ति की ऐसी स्थिरता पहले कभी नहीं थी। सप्तकालीन कवयित्रियों की तरह आज की स्त्री कविता में पुल्लिंग क्रियाएँ नहीं दिखती। मीरा, सहजोबाई और जनाबाई की पीढ़ियों के बाद महादेवी, सुभद्राकुमारी चौहान और फिर आज की स्त्री-कविता ये तीन पड़ाव और उस बीच स्त्री कविता का नदारद होना, स्त्री के अपने रचना-संसार में आत्मविश्वास के अभाव को दिखाते हैं अथवा पुरूष वर्चस्व की साज़िश हो यह अलग बात है। लेकिन स्त्री उपस्थिति की संख्या का बढ़ना, भाषा में स्त्री के सरल आत्मविश्वासी लिंगीय प्रवेश से स्त्री रचना की दीर्घजीविता के प्रति आश्वस्त करता है।

**इस अर्जित लोकतांत्रिक स्पेस की दूसरी पहचान यह है कि स्त्री कविता ने पुरूष वर्चस्ववाद को प्रत्येक कोण से परखने का साहस अर्जित कर लिया है।** स्त्री के जन्म, भ्रूण हत्या, स्त्री जन्म पर जच्चा के साथ दुर्व्यवहार, स्त्री की स्त्री रूप में परवरिश, स्त्रीत्व और पारिवारिक इज्ज़त का संबंध, स्त्री का सामाजिक अनुकूलन स्त्री की अपनी जगह की तलाश, वैधव्य, अकेली स्त्री का संघर्ष, स्त्री की सहनशीलता, स्त्री का जीवन, प्रेम, प्रेम में स्त्री की इयत्ता, बलात्कार, विवाह, विवाहेत्तर यौन संबंध, देह सौंदर्य, देह की गोपनीयता, आर्थिक स्वतंत्रता और बराबरी के सभी पक्ष और उनसे जुड़े सारे पूर्वाग्रह और उनका प्रतिरोध कविता के विषय बन चुके हैं। स्त्री के अपने ही अस्तित्व के इतने रूपों और परतों के उद्घाटन के जोड़ का चित्रण इस जीव जगत में और किसी प्राणी के वर्णन में नहीं हुआ है, पुरूष की तो छोड़ ही दीजिए। यहाँ तक कि पुरूष कवियों की कविता में भी स्त्री के बहुविध चित्रण का प्राचुर्य है। लेकिन स्त्री मन की जटिल बनावट को देखते हुए अभी भी इसमें विषय वैविध्य की अनंत संभावनाएँ शेष हैं।

तीसरी बात, **स्त्री कविता यह जानती है कि हमारे समाज की परंपरा हज़ारों वर्ष पुरानी है जिसमें सांस्कृतिक आदर्शों का एक सूक्ष्म ताना-बाना बुना हुआ है।** यह ताना-वाना अपने समाज के सदस्यों में सामाजिक पारिवारिक और मनोवैज्ञानिक भूमिकाओं का एक ऐसा अनकहा आदर्श गढ़ता है कि उसकी पकड़ से निकलना किसी के लिए संभव नहीं। यह दालित्य का ऐसा अनुभव भी नहीं जहाँ अपने घर के भीतर जाति-मूल्यों से क्षण-क्षण की टक्कर न होती हो। यहाँ तो स्त्री के विकास और मुक्ति का विषय बनने वाली स्त्री उस परंपरा के जन्मदाताओं की सहयोगिनी भी है और पोषक भी। स्त्री कविता जानती है कि स्त्री की अनंत कष्ट अनुभूति और विडंबना बोध परंपरा का फल है और वह यह भी जानती है कि कितनी भी दमघोंटू क्यों न हों, जीने के लिए यही परंपरा उसे अगली पीढ़ी को सौंपनी है- इस बात को कहती मंगलेश डबराल की एक

बहुत अर्थवान कविता है –

..... मात्र्योश्का तुम सुन्दर और मासूम हो

बच्चों की प्यारी गुड़िया तुम कई परतों में रहती हो

एक के भीतर एक छिपी हुई

..... अलग–अलग कोठरियों में तुम्हारे सातों जन्म

यह कोई कला है कोई दु:ख या बचपन का पुराना खेल

कि तुम अपने ही भीतर छिपने चली गयी

अपने पूरे कुनबे के साथ

..... तुम्हें खोलने पर एक एक प्रकट होती हैं स्त्रियाँ

उनका पूरा इतिहास, कभी न मरने वाला जीवन

पर दादी, नानी, माँ, बेटी, बहन, पत्नी, प्रेयसी,

सबकी सब निहत्थी इस भीषण दुनिया से अंजान

इनमें जो सबसे बड़ी है उम्र दराज़

जिसने सहे हैं सबसे अधिक दु:ख उसी के पास है सबसे अधिक फूल

वही दिखती है अब भी सामना करने को तैयार

तमाम स्त्रियों को अपने भीतर बचाए हुए।

और जो सबसे छोटी है नवजात ..... उसी के भीतर से आती हो तुम

मात्र्योश्का रूस की एक लोकप्रिय गुड़िया है। जिसमें लकड़ी की बनी क्रमश: बड़ी से छोटी होती कई गुड़ियाँ समायी रहती है। मात्र्योश्का शब्द का आशय माँ या मातृमूलकता से है। मंगलेश डबराल रूस की छोटी सी गुड़िया के माध्यम से दुनिया भर की स्त्रियों की चरित्र–भाव–समता और परम्परा स्थापित कर देते हैं। लोकगीतों के साथ खिलौनों में स्त्री के अस्तित्व की गाथाएँ और उनके नाभिनालबद्ध दु:ख सभी देशकाल में एक जैसे हैं। यह कविता पारंपरिक गीतों और खिलौनों की अनकही अन उरेखी परतों में हर वर्ग, जाति, देश और समय की स्त्रियों के बीच साझे दु:ख को रहस्य की तरह खोलती है। एक के बाद एक, एक जैसे आकार, रूप और चिह्नों वाली ये गुड़ियाएँ स्त्री जीवन के अनवरत कष्ट और कभी न मरने वाले जिजीविषा को प्रकट करती है। इनके अनुभव, इनके तजुर्बे, संघर्ष, जीवन जीने के प्रयोग, उम्र और परम्परा के

विकास के साथ बढ़ते जाते हैं। सबसे बड़ी उम्र दराज औरतें अपनी बच्चियों को यह कष्ट और उनका सामना करने के गुर संस्कार में देती हैं। जीवन की कठिनतम परिस्थितयों को खेल की तरह खेलने वाला इनका जीवट इनकी पहचान भी है और पुरस्कार भी। इन्हीं से ये अपना वह रूप पाती हैं। जिनमें ये संसार को सबसे सुन्दर और आकर्षक लगती हैं। संसार केवल इस रूप को देख बच्चों के खेल की तरह इन्हें आसान अगंभीर और मनोरंजक समझने लगता है। जगत को चलायमान रखने वाले मातृमूल जीवट को केन्द्र में रखकर लिखी गई यह कविता स्त्री परम्परा की अंतः परतों को उघाड़ने की कोशिश करती है और उस मूल्य को भी उद्घाटित करती है जिससे हमारा समाज इस जीवट को 'ट्रीट' करता है।

यह कविता एक ऐसी अनवरतता की सृष्टि करती है जिसमें पाने वाली, खोने वाली, अमीर-गरीब, माँ-बेटी, सास-बहू, घरेलू-कामकाजी, राजनीतिज्ञ-मजदूरिन सभी तरह की स्त्रियाँ, एक ही साँचे ढली एक ही परम्परा की भागी बनती, एक ही भीषण दुनिया से लड़ती नज़र आती है। जिसमें सबसे अधिक फूल पाने के लिए सबसे अधिक कष्ट सहना जरूरी है और यह सबके लिए जरूरी है अतः यहाँ संघर्ष की अनिवार्यता है चुनाव की स्वतंत्रता नहीं अतः ये कविताएँ स्त्री जीवन के यथार्थ को परम्परा के ट्रैजिक लोक के रूप में दिखाती हैं।

जहाँ स्त्री परंपरा के हाथों की पुतली बनी नज़र आती है। वहाँ मुक्ति की आकांक्षा तो है लेकिन खेल के नियमों के भीतर ही जीवन प्रयोगों की सीमा में ही। कविता जानती है कि उसे जाना तो फिर परंपरा की खोह में ही होगा क्योंकि जीवन के नैरंतर्य में आखिर आने वाले की सार्थकता बीत जाने वाले से है और बीते हुए का अर्थ आने वाला ही बताएगा। लगभग इसी अर्थ में स्त्री कविता की अंतः परंपरा-लोकगीतों, पुराण कथाओं, मिथकों, गालियों और तानों में अतीत के अनुभव, वर्तमान के चित्र और भविष्य के स्वप्न संजोती है। लोकगीतों और लोक कथाओं की सर्वसुलभ उदारता स्त्री कविता के लिए जातीय एकता का एक ऐसा उदाहरण पेश करती है जो सिर्फ अकादमीय और विमर्श प्रेरित होने की होड़ में लिखी जल्दबाज़ कविताओं में दुर्लभ है।

**इस अर्जित लोकतांत्रिक स्पेस की चौथी बात, स्त्री कविता चुनौतियों के नए भूगोल को पहचानती है।** परीक्षण की प्रक्रिया में भौतिक दशाओं के अनुकूल मूल्यों, व्यवहारों और रीतिरिवाजों में जबरदस्त काँट-छाँट होती है। तस्वीर बदलती है। स्त्री के पक्ष में भले ही यह तस्वीर धीरे-धीरे बदलेगी क्योंकि वह जानती है कि अब चुनौती केवल पारिवारिक इकाई के किस्म का पुरूष वर्चस्वाद ही नहीं है। नई उपभोक्ता संस्कृति से उपजी प्रक्रियाओं का शोषण, कार्यस्थल पर कामकाजी महिलाओं का शोषण केवल पुरूष जनित नहीं होता। इसी तरह स्त्री के जीवन द्वंद्वों में घर-बाहर, हँसना-रोना, जगना-सोना, जीना-मरना, स्त्री-पुरूष के द्वित्व केवल द्वित्व द्वंद नहीं रहे ये

अनेक तत्वी द्वंद्वबन कर प्रकट हो रहे हैं – मंगलेश की ही पंक्तियों में –

..... प्रेम करती स्त्री ठगी जाती है रोज़

उसे पता नहीं चलता बाहर, क्या चल रहा है

कौन ठग रहा है, कौन है खलनायक

यहाँ 'प्रेम' की जगह लड़ती स्त्री रख दीजिए तो अर्थ और खुल जाएगा। हमारा सौभाग्य है कि समय की इस जटिलता को स्त्री कविता पहचान रही है।

**पाँचवी बात स्त्री कविता स्वतंत्रता और बराबरी की अपनी गढ़ी या गढ़ाई गई परिभाषा को प्रश्नांकित करती है।** कामकाजी स्त्रियों के अधिकार (छुट्टी, तनख्वाह, काम के घंटे) मानवाधिकार की श्रेणी में आ गए हैं। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में घरेलू स्त्रियों के श्रम का मूल्य भी चर्चा में है लेकिन सामान्य गृहस्थ जीवन में सहकारिता और श्रम के बँटवारे की बात दबे-ढँके भी चर्चा में नहीं आती क्योंकि इससे संबंधों की गरिमा दाँव पर लगती है। जीवन पद्धति में घुले-मिले परिवर्तनों की बात, जीवन पद्धति के बदलाव के सूक्ष्म संकेतों से ही हो सकती है यहाँ तक कि पुरूष के बराबर बौद्धिकता रखने वाली स्त्रियों के लिए लेखन में भी स्त्री-विमर्श जैसे रसोईघर तय होते जा रहे हैं कि बौद्धिक स्त्री सिर्फ स्त्री विमर्श पर ही बात करे तो बेहतर है। यह सुखद है कि ऐसे संकेत भी कविता में मिल रहे हैं जो पुरूष और स्त्री के लिए नीयत घेरों को लाँघने का जोखिम उठाते हैं। अकादमिक खेमों, पत्र-पत्रिकाओं में स्त्री-विमर्श पर रेस करवाने की मंशा को पहचानते हैं। और स्त्री आज़ादी के प्रश्न को पुरूष-संसर्ग की ओछी स्वच्छंद वृत्ति के रूप में प्रचारित करने की मंशा को भी। दो कविता चित्र देखिए –

.....दफ्तर में ऊँघती है लड़कियाँ

ऊँघती है काम से, थकान से ...

सूरज चमकता है उनके दफ्तरों के बाहर

मौसम बदलते हैं उनकी खिड़की से दूर

हवा नहीं छूती उन्हें कितने ही साल

पकते हैं बाल धूप के बिना ही

दफ्तरों में कैद लड़कियों के

बड़े होते हैं बहन-भाई उनसे दूर

फिर उनके बच्चे बढ़ते हैं स्वतंत्र

सिर्फ तीन महीनों के लिए माँ बनती है लड़कियाँ .....

गगन गिल (एक दिन लौटेगी लड़की)

..... इधर कवि रात के हल्के भोजन के बाद

सिगरेट के हल्के-हल्के कश लेते हुए

इस पूरी दुनिया की प्रतिनिधि स्त्री को

आग्रह पूर्वक कविता की दुनिया में आमंत्रित कर रहा है

सोचते हुए कि

इतने प्यार, इतने सम्मान की,

इतनी बराबरी की

आदी नहीं

शायद इसी लिए नहीं आ रही है

झिझक रही है

शरमा रही है ..... कात्यायनी इस पोरूषपूर्ण समय में

**स्त्री कविता के अर्जित लोकतांत्रिक स्पेस की छठी बात, स्त्री कविता के पास उसके अवचेतन में स्मृतियों का अनंत अंबार है** उसमें केवल निरंतर विकृत होते समाज मे स्त्री की पहचान खोने के अगणित अनुभव तो हैं ही। समाज की विकृतियों को लाँघकर स्वबोध, आत्मविश्वास और स्त्रीत्व को अर्जित करने के भी अनंत जीवन की कथाएँ हैं। यह एक और कारण है जो उसे विमर्शों से अलग करता है।

**जया जादवानी लिखती है -**

.... एक दिन औरत का दिन होगा

एक दिन वह खिलाएगी

दूध से सनी रोटियाँ

दुनिया के सारे बच्चों को

एक दिन होगी उसकी छातियाँ

प्रेम की नदी से भरपूर

वह चलना सिखाएगी

दुनिया की सारी सभ्यताओं को

वह हँसेगी कि

उसकी हँसी में होगी सिर्फ हँसी

और कुछ नहीं होगा

गीत फूटेंगे होठों से

लोरियाँ बनकर

वह स्थगित कर देगी

सारे युद्ध, सारे धर्म

वह एतबार का पाठ पढ़ाएगी ..... जया जादवानी (इतनी संभावनाओं के बाद भी)

इस कविता को देखकर लगता है कि स्त्री के पास अपनी लड़ाई को लेकर एक अनगढ़ सा स्वप्न भी है। यह स्त्री का परिवर्तित समाज के लिए स्वप्न है- हँसने, गाने, शांति, विश्वास, सार्थकता और स्वतंत्रता का स्वप्न। जीवन को बचाने के लिए मातृ मूल जीवन का स्वप्न। अतः यह एक बहुमूल्य स्वप्न है और यह स्वप्न विमर्शों से परे हैं।

इसलिए मेरा मानना है कि कविता क्या देखे और हम कविता में क्या देखें? इस दोनों प्रश्नों का उत्तर विमर्शों की फार्मूला बद्ध पद्धति से संभव नहीं। कविता को विमर्शों में घटा कर हम कविता का लोकतांत्रिक स्पेस छीनते हैं जिससे कविता की ताकत कम होती है। कविता समय की मानवीय स्मृति है इस लिहाज़ से कविता में मानवीयता की शर्त के साथ समय की धड़कनों का होना अनिवार्य तो है लेकिन यह किसी आयातित विचार सारणी के तहत नहीं हो सकता। जब स्त्री की स्मृतियाँ और स्वप्न सच्चे हैं तो उनको अभिव्यक्त करने की उसकी भाषा भी कविता ही देगी कोई विमर्श सूचक शब्दावली नहीं। स्त्री कविता लिखी बहुत जाए यह स्वतंत्रता तो है लेकिन मूल्यांकन के वक्त अंततः स्त्री कविता को भी कविता होने की पहली और अंतिम शर्त से तो गुजरना ही होगा क्योंकि कविता की दीर्घजीविता का अंतिम निकष स्वयं कविता ही है स्त्री या पुरूष नहीं।

---

समकालीन पत्र–पत्रिकाओं में विपुल लेखन, लोक साहित्य विमर्श में अभिरूचि। सम्प्रति हिन्दी विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं।

# हिन्दी कविता में पर्यावरण–बोध

डॉ. राजहंस कुमार

**इधर की हिन्दी कविताओं में खास कर उदारवादी बाजार व्यवस्था नब्बे के दशक के बाद, पृथ्वी और पर्यावरण की सारी आपदाएं और आशंकाएं विस्तृत रूप में आई हैं। विकास के नाम पर विनाश की ओर धकेलती सारी योजनाएं और योजनाओं के पीछे की सामाजिक-सांस्कृतिक राजनीति का पर्दाफाश इन कविताओं में बेहतर हुआ है। पहाड़ों पर बनते बड़े-बड़े डैम, विद्युत् उत्पादन के लिए बाँधी जाती नदियाँ, कंक्रीट के जंगलों में तब्दील होती कृषि भूमि, बाजार और स्मार्ट सिटी के नाम पर बेतरतीब बसती – उजड़ती शहरी बस्तियां, मरती मिट्टी, कटते जंगल-वनस्पति, लुप्त होते जीव और विस्थापित होती आबादी सारी समस्याएँ अपनी स्थानीयता के साथ उभरती दिखती हैं।**

खबरों में दिखती, छपती धरती इन दिनों डराती है। अकादमीय सेमिनारों-संगोष्ठियों एवं वैज्ञानिक परिचर्चा में तो ऐसा महसूस होता है मानो जल्द ही हम मोहनजोदड़ो-हड़प्पा सभ्यता की तरह इतिहास बनने वाले हैं। समुद्रों का बढ़ता जल-स्तर, पृथ्वी का बढ़ता ताप, हरित गैसों की पृथ्वी पर्यावरण को चीरने की व्याकुलता, पिघलते विशाल ग्लेशियर और बर्फ की चादरें, धरती की आधारभूत प्लेटों की अंगड़ाई, रोज-रोज पहाड़ों का नृत्य और धारती का भूडोल, नदियों का अथाह जलराशि के साथ मचलना और बादलों का बरसना छोड़ फटना मानव सभ्यता के ज्योतिषियों को चिंतित किये जा रहा है। उसे समझने समझाने को उत्सुक हमारे भूवैज्ञानिक अथक प्रयास में लगे हैं। बाढ़, भूकंप, सुनामी, ज्वालामुखी-विस्फोट और जंगल की आग जैसी प्राकृतिक आपदाओं को बूझने और उससे बचने की तकनीक ढूंढी जा रही है। आपदाओं से निबटने और उसके प्रभाव में कम से कम आने की प्रबंधन क्षमताओं का

विकास किया जा रहा है। राष्ट्रों द्वारा अपनी-अपनी स्थानीय आपदाओं को चिह्नित कर उनसे निबटने को राष्ट्रीय आपदा प्रबंधन समूहों का गठन इसी दिशा में एक प्रयास है। दीर्घ अवधि में धरती को और सच कहें तो अपने आप को बचाने हेतु अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विविध देशों के बौद्धिक समूहों का सहयोग की दिशा में बढ़ना भी इस प्रयास का अंश दीखता है। धरती की कक्षा में मानव निर्मित सैटलाईटो को स्थापित कर जीपीएस तकनीकों के प्रयोग से धरती और पर्यावरण के गर्भ में छिपे रहस्यों को ढूंढना आपसी सहयोग के बगैर संभव नहीं। सारी चिंता और प्रयासों के अपने अंतर्विरोध भी हैं ,इसमें छिपी अंतर्राष्ट्रीय और स्थानीय राजनीति भी है पर बहसिया चिंतन में कुछ बातों पर लगभग सब सहमत हैं ---कि यह भय और आशंका साझे की है। विकास की जिस अवधारणा को पृथ्वीवासियों ने अपनाया है कमोबेश पृथ्वी उससे सहमत नहीं है।

नित आ रही आपदा का अधिकाँश हिस्सा मानव गतिविधियों द्वारा निर्मित है। और अंतिम और सबसे महत्वपूर्ण यह कि कोई भी आपदा आये उससे पूर्व ही हम उससे होने वाली मुठभेड़ का निदान ढूंढ ले तो बेहतर है। और निदान ढूँढने की दिशा में सबसे पहला और महत्वपूर्ण कदम होगा पृथ्वी के प्रत्येक नागरिक का अपनी स्थानीयता के साथ अपने पर्यावरण को समझना और सतर्क रहना। जापान में बैठा तोमोको हो या कोसी नदी के मुहाने पर बैठा रामदीन सबमे प्रकृति और पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता और सतर्कता अनिवार्य है। कविता जाने-अनजाने आदिमकाल से मनुष्य की इस संवेदनशीलता को जगाती रही है। दरअसल, कविता ने प्रारंभ से ही मनुष्य और प्रकृति के संबंध को समझने और उजागर करने की कोशिश की है। यह अन्यथा नहीं कि पृथ्वी के बनने और तबाह होने की तमाम कथाएं साहित्य की विधाओं में मिलती हैं। विश्व की हर कविता प्रकृति के सौन्दर्य की गाथा गाने में सर्वाधिक स्वाद ग्रहण करती रही है। खुसरो, टांलस्ताप, वर्ड्सवर्थ, कीट्स हों या फिर सुमित्रानंदन पन्त सबने अपनी रचनात्मकता का शीर्ष अपनी प्रकृति और पर्यावरण सम्बन्धी कविताओं में ही पाया है। यह भी अन्यथा नहीं कि विश्व के सारे कालातीत महाकाव्यों में प्रयुक्त रूपक खमेटाफर, और मिथक प्रकृति से ही सम्बोधित हैं। ध्यान दें, तो समझ पायेंगे कि भारतीय संस्कृति के प्रथम साहित्य ऋग्वेद में क्यों बार-बार अग्नि, इंद्र बादलों के देवता, सूर्य, वसु, संध्या, नदी, सविता, उषा की आराधना की गयी है। अधिकतर श्लोक प्रकृति और पर्यावरण को ही क्यों समर्पित हैं। सभी ईश्वर एवं प्रजापतियों की संकल्पना--- इंद्र, वरुण, आदित्य, मरुत, रूद्र दरअसल इन्ही प्राकृतिक शक्तियों का विस्तार है। आर्य साहित्य में भी प्रथम पुरुष मनु के देव संस्कृति से विलग होने की और मानवता के विकास की कथा अनेक रूपों में आई है। शतपथ ब्राह्मण के प्रथम खंड के आठवें अध्याय में उल्लिखित है कि विशाल जल-प्रलय आई जिसमे देवताओं की भोगवादी संस्कृति खत्म हो गयी और शेष बचे मनु और श्रद्धा ने इस

सुनामी से अपनी जान हिमवान प्रदेश में जाकर बचाई। इसके उपरान्त पुनः मानव-सभ्यता का निर्माण किया। आख्यान प्रमाणित करता है कि हमारे साहित्य की चिंतन पद्धति में पृथ्वी विषयक चिंता प्रारंभ से ही है। कविताओं एवं श्लोकों से ना सिर्फ चिंतन का अंदाजा लगता है बल्कि बार-बार धरती पर आयीं आपदाओं, प्रलयों की भयावहता का भी चित्रण होता है, उससे बचने के भी वैज्ञानिक सूत्रों की तकनीक प्राप्त होती है।

आधुनिक हिन्दी कविता भी इसी परंपरा का निर्वहन कर रही है। मूलतः इसने दो रूपों में पर्यावरण चिंतन को अपनी काया में छिपा रखा है। एक का संबंध चराचर प्रकृति और पृथ्वी में उपस्थित सौन्दर्य, उसकी कोमलता एवं नितनव्यता से है तो दूसरे का संबंध विकास के नाम पर प्रकृति में मनुष्य की बढती दखल अंदाजी एवं आक्रामकता से है। एक प्रकृति की गोद में पलते-बढ़ते मनुष्य के आनंद और आकांक्षा की बात करती है तो दूसरी भूवैज्ञानिकों के उस तकनीकी चिंतन को दर्शाती है जहां आकर प्रकृति पर्यावरण में तब्दील हो जाती है और कविता से सस्टेनेबल विकास की अवधारनाएँ झाँकने लगती हैं। प्रकृति एवं पर्यावरण के सौन्दर्य से लगाव की सर्वश्रेष्ठ उपस्थिति छायावादी काव्यों में देखने को मिलती है जहाँ कविता कामिनी अपने तमाम छंदों एवं लयों के साथ धरती को अपनाती है। प्रकृति का बार-बार मानवीकरण ख्पेर्सोनिफिकेशन, नायिका की तरह उसकी उपस्थिति इस बात की पुष्टि करते हैं कि छायावादी कवि मनुष्य और प्रकृति के संबंधों के समर्थक थे ना कि उपयोगितावादी समीकरण के। छायावादी रचना संसार के प्रतिनिधि कवि जयशंकर प्रसाद की कुछ पंक्तियों को देखें

एक सुरक्षित पृथ्वी पर एक अच्छी सुबह -----चिड़ियों की कुलकुलाहट के साथ प्रदूषण रहित वायु से खिलती रसपूर्ण कलियाँ लचकती डोलती वनस्पतियाँ और स्वच्छ आकाश तले नायिका रूप में प्रकट होती उषा सुबह, नागरी को जगाने का छंद

बीती विभावरी जाग री

अम्बर पनघट में डुबो रही

तारघट उषा नागरी

खग कुल कुलकुल सा बोल रहा

किसलय का अंचल डोल रहा

लो यह लतिका भी भर लायी

मधुमुकुल नवल रस गागरी

ऐसी निष्कलुष रोमांटिक पृथ्वी-पर्यावरण की अभिलाषा हिन्दी कविता ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानवीयता की बड़ी थाती है। पर्यावरण के तमाम कारकों जल, वायु, अम्बर, धरती, वनस्पति से ऐसा मधुर आत्मीय संबंध ना सिर्फ काव्य-पाठ के आस्वाद को बढाता है बल्कि पर्यावरण के प्रति हिन्दी कविता की गहरी समझ को भी दर्शाता है।

छायावादी कविता का रचना समय आजादी के पूर्व का था। आजादी से आई बौद्धिकता ने प्रकृति चिन्तन को पर्यावरणचिंतन में तब्दील कर दिया। कवितायें सीधे-सीधे विमर्श के रूप में भी आने लगीं। अज्ञेय सरीखे बौद्धिक कवियों ने कविता को ना सिर्फ मनुष्य की संवेदना का संस्कार करने वाला माना बल्कि मनुष्य के पर्यावरण-बोध का उत्तरदायित्व भी कविता पर डाला। इस समय हवाओं के बसंती होने और अल्हड़पन का बिम्बन नहीं किया गया, ना ही मछली को जल की रानी माना गया। बल्कि सीधे-सीधे नंदा देवी की जैव-विविधता के खत्म होने, नदी के मरुस्थल होने, जंगलो के पेट में भारी ट्रकों के दौड़ने और बीस-तीस पचास वर्षों में सब कुछ मरुदीप को समर्पित हो जाने की चिंता व्यक्त की गयी है।

इधर की  हिन्दी कविताओं में खास कर उदारवादी बाजार व्यवस्था नब्बे के दशक के बाद, पृथ्वी और पर्यावरण की सारी आपदाएं और आशंकाएं विस्तृत रूप में आई हैं। विकास के नाम पर विनाश की ओर धकेलती सारी योजनाएं और योजनाओं के पीछे की सामाजिक-सांस्कृतिक राजनीति का पर्दाफाश इन कविताओं में बेहतर हुआ है। पहाड़ों पर बनते बड़े-बड़े डैम, विद्युत् उत्पादन के लिए बाँधी जाती नदियाँ, कंक्रीट के जंगलों में तब्दील होती कृषि भूमि, बाजार और स्मार्ट सिटी के नाम पर बेतरतीब बसती - उजड़ती शहरी बस्तियां, मरती मिट्टी, कटते जंगल-वनस्पति, लुप्त होते जीव और विस्थापित होती आबादी सारी समस्याएँ अपनी स्थानीयता के साथ उभरती दिखती हैं। इधर की कविता की खासियत यह भी है कि इसमें समस्याएं सिर्फ संबोधित नहीं हो रहीं बल्कि अपनी अभिव्यक्ति के जादुई स्पर्श से हम सब को सेंसेटाइज भी करती दिखती हैं। इन कविताओं में 'चींटियों की रुलाई' केदारनाथ सिंह, तक का अनुवाद हिन्दी में करने की अभिलाषा है ताकि विकास की अंधी दौड़ में खिसक कर गलत अक्षांश पर आ गए शहर को बचाया जा सके। एक अन्य जगह पृथ्वी को बचाने की इस इच्छा में पृथ्वी का आदिम नागरिक पानी भी शामिल होता है। वह ईश्वर के न्यायालय में प्रार्थना लेकर जाता है। हम सब जानते हैं कि पेय जल के अभाव में होने वाले तृतीय विश्व युद्ध की आशंका ने सब को चिंतित कर रखा है। केदारनाथ सिंह धरती पर लुप्त होते पेय जल की इस विकराल समस्या को अद्भुत किस्म के रचनात्मक खिलंदडपन के साथ रखते हैं। कविता का शीर्षक है पानी की प्रार्थना पानी ईश्वर से अपनी परेशानियों अपने दर्द को स्वयं कहना चाहता है। निश्चित रूप से पानी के दु:ख-दर्द को

उसका सबसे बड़ा प्रयोक्त मनुष्य जब नहीं सुनता तब ही वह ईश्वर के न्यायालय में जाता है

प्रभु ,

मैं पानी पृथ्वी का

प्राचीनतम नागरिक

आपसे कुछ कहने की अनुमति चाहता हूँ

यदि समय हो तो पिछले एक दिन का

हिसाब दूं आपको-----

इस एक दिन के हिसाब में पानी अपनी सारी व्यथा एवं उसपर होने वाले जुल्म का दिल खोल कर बखान करता है। चील, कौआ, चिरई, चुनमुन, हकासा प्यासा जानवर, मानुष-अमानुष सभी आते हैं अपनी प्यास बुझाने पर पानी के अन्दर छिपे कचरे का दोषी कौन, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। पानी दुखी है वह अपने भाई बंधुओं के अन्य ग्रहों पर उपस्थिति और अपने धरती से लुप्त हो जाने की आशंका से नाराज है। वह मनुष्य और बाजार दोनों की गतिविधियों से नाराज है। इसलिए वह कविता के अंत में आदिम भारतीय आस्था को माफ नहीं कर पाता और कहता है।

पर अपराध क्षमा हो प्रभु

और यदि मैं झूठ बोलूं

तो जल कर हो जाऊं राख

कहते हैं इसमें

आपकी भी सहमति है।

इसी प्रकार पृथ्वी और उसके पर्यावरण को सुनियोजित रूप से नष्ट करने की राजनीति को उजागर करती एक कविता है 'पृथ्वी'। कविता में प्राकृतिक संसाधनों के अनवरत दोहन एवं उससे उपजे असंतुलन की व्यथा है। इतना ही नहीं वह बड़ी सफाई से रिओदीजेनेरियो प्रोटोकॉल, क्योटो प्रोटोकॉल एवं कोपेनहेगेन जैसी वैश्विक बैठकों को भी निशाने पर लेती चलती है। वह बाजार का नेतृत्व करने वाले विकसित देशों एवं उनके समूहों की दोमुंही राजनीति को भी उद्घाटित करती है, जो रक्षक एवं भक्षक दोनों की भूमिका निभाना चाहते हैं। कविता का आरंभ कुछ इस प्रकार होता है।

------अवाक है पृथ्वी

अब तो वह चीख भी नहीं सकती

हत्यारे उसका श्रृंगार कर रहे हैं

घावों पर चिपका रहे हैं

हरे वृक्ष के रंग चित्र

अभी सूखे भी नहीं हैं

उन अँगुलियों के जख्म

जिनमे महावर लगा-बिछुआ पहना रहे हैं

कविता कलेवर में लम्बी है। इसके अनुसार पृथ्वी का श्रृंगार, उसका महावर, बिछुआ सभी पृथ्वी की चीख को दबाने, उसके विनाश की आवाज को मिटाने के साधन हैं। कविता अपने समय में हो रहे पृथ्वी बचाओ जैसे महानतम सेमिनारों को समझ रही है। इसलिए लगातार बाजार प्रायोजित विश्वस्तरीय दोमुंही राजनीति को उजागर करती है जिसमे एक आँख फोड़ कर दूसरी में सुरमा लगाने की बात है, बालों को नोच कर उसमे गजरा लगाने की बात है, एक कलाई मरोड़ कर दूसरे में कंगन पहनाने की बात है। कविता की समझदारी यह है कि वह सिर्फ निराशा और भय नहीं फेंकती बल्कि दूसरे खंड में विश्व नागरिकता की ओर आह्वानपरक हो जाती है। वह उस जरुरत को उजागर करती है जिसमे सबसे पहले धरती को उन लुटेरों से बचाने का आह्वान है जो धरती को एक केक की तरह टुकड़े-टुकड़े आपस में बाँट लेना चाहते हैं। याद करें चीन और अमेरिका के हाल-फिलहाल के महासागरीय संघर्ष औए दावे को। ये वे लोग हैं जो बम बरसा कर कार्बन डाई ऑक्साइड की चिंता करते हैं। ये वे लोग हैं जो जंगल काट कर भूस्खलन पर बड़े-बड़े शोध करवाते हैं। इसलिए कविता इस घोर छल और निराशा के बीच आम मानवीय जिजीविषा से उम्मीद करती है ---

वे बार-बार चुराएंगे

फिर भी बची रहेगी धूप

वे छुपाएँगे रौशनी

फिर भी दिखेंगी राहें

तुम रहोगी पृथ्वी

तरबूज की तरह हरा और रसदार

कुचल जाने दो शेष नाग के फन

टूट जाने दो महावराह के दांत

दरक जाने दो महा कच्छप की पीठ

हम हजारों मुठ्ठियों पर तुम्हे थाम लेंगे पृथ्वी ---

निश्चित रूप से यदि हमारी आपकी पृथ्वी को बचाना है तो विकास की इस अंधी दौड़ पर लगाम आवश्यक है। लगाम लोकल और ग्लोबल दोनों स्तरों पर आवश्यक है। इस लगाम को थामने वाली मुठ्ठियों को टिहरी, पंचेश्वर, कोसी-गंडक तट या फिर उत्तराखंड की गलियों में ही ढूंढना होगा बड़े-बड़े सेमिनारों संगोष्ठियों में नहीं। पर आज ये तनी हुई मुठ्ठियाँ जहां भी हों जिसकी भी हों उन्हें भी हिन्दी कविता की इन पंक्तियों को अपने लिए संवैधानिक प्रार्थना के रूप में अपनाना होगा कि ---

-----मुझे कल्पवृक्ष नहीं चाहिए

नहीं चाहिए कामधेनु

इस पृथ्वी पर

जिंदा रहने के लिए मुझे इतना ही अन्न चाहिए

जितना चींटी अपनी चोंच में ले कर चलती है

उतनी ही जमीन कि पसर सके लौकी की लतर

और उतना ही कपास कि ढँक जाए लाज

स्मृतियों से कल्पनालोक तक एक सड़क

और नैतिक होने भर शिक्षा

किसी कुबेर का खजाना हमें नहीं चाहिए

हमें नहीं चाहिए मगरमच्छों से भरी

दूध की शातिर नदी। (निलय उपाध्याय)

---

✧ ✧ ✧

**प्रकाशित लेख, रुचियाँ एवं गतिविधियाँ :**

- विभिन्न साहित्यिक पत्रदृपत्रिकाओं में लेख और शोधपत्र प्रकाशित
- साहित्यिक कार्यक्रमों और आयोजनों में सक्रिय भागीदारी तथा विभिन्न साहित्यिक साहित्यिक संगोष्ठियों का संचालन– संयोजन
- नाटक, कहानी और आलोचना में रूचि
- संप्तति : असिस्टेंट प्रोफेसर, श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविध्यालय, दिल्ली

# हिन्दी कविता में आपदा विमर्श

डॉ. प्रभात शर्मा

**आधुनिक काल में जैसे-जैसे मानवीय सभ्यता का विकास होता गया वैसे-वैसे वैज्ञानिक अवधारणाएं भी मनुष्य जीवन में शामिल होती गयी। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् मनुष्य विकास की नित नयी गाथाएं लिखता चला गया। परिवर्तित परिवेश के साथ मनुष्य की अभिव्यक्ति चेतना में भी बदलाव हुआ । अनेक नवीन भाव, विषय और विचार साहित्य के केंद्र में आते गए । लेकिन धीरे-धीरे मनुष्य प्रकृति से दूर होता गया । प्रकृति पर उसकी निर्भरता कम होती गयी**

मनुष्य और प्रकृति के बीच सहज, अन्तरंग और रागात्मक संबंध रहा है। मानव सभ्यता का विकास ही प्रकृति के अनुकूलित साहचर्य से हुआ है। मनुष्य हमेशा प्राकृतिक सौन्दर्य से अभिभूत होता आया है। इतना ही नहीं वह प्रकृति की एक साधक के रूप में पूजा करता रहा है । लेकिन जहाँ एक ओर वह प्रकृति के सौन्दर्य से अभिभूत है वही दूसरी ओर उसके रौद्र एवं भीषण रूप से भयभीत भी। इसीलिए वह प्रकृति के साथ तादात्म और एकरूपता स्थापित करने के प्रयास करता आया है क्योंकि वह जानता है कि प्रकृति का शांत एवं संतुलित रूप मानव सभ्यता के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। पाश्चात्य सभ्यता में प्रकृति और पर्यावरण के प्रति चिंता बीसवीं सदी के उतरार्धा में दिखाई देती है किन्तु भारतीय मनीषा ने इसे वैदिक काल में ही अनुभूत कर लिया था। दुनिया की सबसे पुरातन काव्य अभिव्यक्ति 'वेद' ही है और वैदिक साहित्य में प्रकृति और पर्यावरण के प्रति गहन रागात्मक बोध दिखाई देता है। शायद ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि वैदिक आर्य सभ्यता संभवत: अपनी पूर्ववर्ती

हड़प्पा सभ्यता की विनाश लीला को देख चुकी थी या कम से कम प्रकृति द्वारा मानवीय सभ्यता के विनाश की गाथाओं से परिचित थी इसलिए वेदों में मनुष्य की जैविक उपस्थिति को प्रकृति के अभिन्न अंग के रूप में चित्रित किया गया है। वेद मानते है की पंचमहाभूतों (अग्नि, जल, आकाश, वायु तथा पृथ्वी) से ही मानव शरीर निर्मित हुआ है उन्हें इस तथ्य का भी ज्ञान था की यदि इन पंचमहातत्वों में से कोई एक भी तत्व दूषित हो गया तो इसका दुष्प्रभाव मानव जीवन पर भी पड़ेगा। इसलिए उन्होंने संतुलन बनाये रखने के लिए प्रत्येक धार्मिक कृत्यों को प्रकृति के साथ जोड़ा तथा मनुष्य को प्रकृति के साथ साम्य बनाए रखने की शपथ दिलाने का प्रावधान भी किया जो आज भी प्रचलित है –

'ऊँ द्यौः शान्ति रन्तरिक्षँ शान्तिः
पृथिवी शान्ति रापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्ति विश्र्वे देवाः शान्ति र्ब्रह्म शान्तिः
सर्व शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधिः
ऊँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

(यजुर्वेद 36:17)

स्पष्ट है की यजुर्वेद का ऋषि-कवि सर्वत्र शान्ति की कामना करते हुए प्राकृतिक जीवन और मनुष्य जीवन के बीच समरस संबंध की प्रार्थना करता है। ऋग्वेद का पृथ्वी सूक्त और नदी सूक्त तथा यजुर्वेद का अरण्यानी सूक्त क्रमश पृथ्वी, नदी और वनस्पतियों के संरक्षण और संवर्धन की कामना का सन्देश देता है। वैदिक साहित्य के साथ-साथ ज्योतिष शास्त्र में भी प्राकृतिक आपदाओं को चिन्हित करने का प्रयास किया गया है । त्रिस्कन्धा ज्योतिष शास्त्र के संहिता स्कन्धा में राष्ट्रविषयक फलादेश को सर्वाधिक महत्व देने की परम्परा रही है। प्राकृतिक आपदाओं ने अत्यन्त प्राचीनकाल से ही मानव सभ्यता को क्षति पहुंचाई है। इन आपदाओं को संहिता ज्योतिष में 'उत्पात' की संज्ञा से अभिहित किया गया है । भूकम्प को 'भौमुत्पात' की श्रेणी में रखा गया है । भूकम्प पूर्वानुमान के सन्दर्भ में इन संहिता ग्रन्थों में अत्यन्त विस्तार से चर्चा की गई है। भूकम्प के कारणों पर विस्तृत चर्चा के बाद इन ग्रन्थों में ऐसी ग्रह स्थितियों को स्पष्ट रूप से चिह्नित किया गया है, जिसमें भूकम्प आने की सर्वाधिक संभावना रहती है। कुल मिलाकर वैदिक कालीन कविता मनुष्य और प्रकृति के अन्यतम भावात्मक संबंधो की व्याख्या करती है।

संस्कृत ही नहीं हिंदी साहित्य का कवि भी प्रकृति को अपनी अनुभूतियों का हिस्सा बनाता रहा है चाहे वह आदिकालीन हिंदी कविता का चारण कवि हो या संदेशरासक का प्रेमी कवि जो अपनी प्रियसी को सन्देश भेजने के लिए बादलों को संदेशक के रूप में परिकल्पित करता है। भक्तिकाल में भक्त कवि प्रकृति को ईश्वर का ही प्रतिरूप मानते है उनकी लीलाओं का विस्तारित रूप। भक्तिकालीन और रीतिकालीन कविता में कवि प्रकृति का मृसन, कोमल और सौम्य रूप प्रस्तुत करते है। रीतिकाल का कवि तो प्राकृतिक सौन्दर्य चित्रण में अपनी पूरी प्रतिभा

का उपयोग करता दिखाई देता है, चाहे षडकृतु वर्णन हो या बारहमासा का चित्रण कवि की भावात्मक और कलात्मक चमक एकसमान दिखाई देती है। यद्दपि तुलसीदास जैसे जनकवि भी मध्यकालीन हिंदी कविता में उपस्थित है जो प्राकृतिक और मानवीय आपदाओं का सफल चित्रण अपनी कविताओं में करते दिखाई देते हैं। आज वैज्ञानिक प्रमाणों से हम भलीभांति जानते है की भारतवर्ष जिस प्राकृतिक आपदा को सबसे ज्यादा झेलता है वह है सूखा और अकाल। आज से छह सौ वर्ष पहले तुलसीदास अपने समय की विषम स्थितियों का जिक्र करते समय उस समय पड़ने वाले अकालों का चित्रण करते है। रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में कलिकाल का चित्रण करते समय वे लिखते है।

'कलि बारहि बार दुकाल परे, बिन्नु अन्न दुखि सब लोग मरे।'

कवितावली में भी यह अकाल है लेकिन दारिर्द्यता के साथ 'दिन दिन दुनो देखि दारिदु, दुकालू दुख, दुरित, दुराजू, सुख-सुकृत संकोच है।' जहा तक अकाल का प्रश्न है यह एक ऐतिहासिक तथ्य है जिसका उल्लेख अबुल फजल ने भी किया है की जिस वर्ष अकबर सिंहासन पर बैठा (1556 ई.) उस वर्ष भीषण अकाल पड़ा था। तुलसीदास दुकाल शब्द का प्रयोग कुसमय का बोध करने के लिए करते है। काकभुसुण्डी को भी ऐसे दुकाल पड़ने पर अयोध्या छोड़ कर जाना पड़ा था। स्पष्ट है की तुलसीदास अपने समय के यथार्थ का चित्रण करते समय सिर्फ अकाल रुपी प्राकृतिक आपदा का ही चित्रण नहीं कर रहे है अपितु इस कृषि प्रधान देश में सिर्फ मानसून पर निर्भर कृषि व्यवस्था तथा सामंती शासकों की उदासीनता का भी चित्रण कर रहे है।

आधुनिक काल में जैसे-जैसे मानवीय सभ्यता का विकास होता गया वैसे-वैसे वैज्ञानिक अवधारणाएं भी मनुष्य जीवन में शामिल होती गयी। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् मनुष्य विकास की नित नयी गाथाएं लिखता चला गया। परिवर्तित परिवेश के साथ मनुष्य की अभिव्यक्ति चेतना में भी बदलाव हुआ । अनेक नवीन भाव, विषय और विचार साहित्य के केंद्र में आते गए । लेकिन धीरे-धीरे मनुष्य प्रकृति से दूर होता गया । प्रकृति पर उसकी निर्भरता कम होती गयी पिछली दो सदियाँ प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की सदी रही है। अब पहले की भांति वह प्रकृति से डरता नहीं था। बल्कि उसने प्रकृति को साधने-बाँधने का ही प्रयास प्रारम्भ कर दिया है। कवि समाज का सबसे संवेदनशील प्राणी होता है और इस नाते उसकी कविताओं में अपने समय की तमाम सामाजिक और समसामयिक घटनाओं का लेखा-जोखा दिखाई देता है। हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेंदु के साहित्य से दिखाई देता है। इस नवजागरणकालीन युग में हिंदी कवि प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए अंगेजों को जिम्मेदार मानता है जो सच भी है यद्दपि कविता की तुलना में गद्य साहित्य में यह अभिव्यक्ति ज्यदा मुखर दिखाई देती है।

आपदा विज्ञान आपदाओं को दो श्रेणियों में विभाजित करता है। पहली, प्राकृतिक आपदा और दूसरी, मानवीय आपदा। आधुनिकता के विकास के साथ-साथ ही आपदाओं की आवृति और सघनता में लगातार वृद्धि देखी जा सकती है। आपदाएं मानवीय सभ्यता के लिए विनाशकारी है। वह न केवल धरती की मौलिक भौतिक संरचना में परिवर्तन कर मनुष्य के लिए संकट खड़ा कर

देती है अपितु मानवीय जान माल के लिए भी विनाशकारी है। दुर्भाग्य से बीसवी और इक्कीसवीं सदी में यह आपदाएँ लगातार बढती दिखाई देती है। भूकंप, सूखा, बाढ़, चक्रवात, सुनामी, बादल फटना, दावानल, ज्वालामुखी फटना, भूस्खलन, आतंकवादी घटना, प्रदूषण, रासायनिक दुर्घटना आदि से भारतीय और वैश्विक समाज लगातार जूझ रहा है। आधुनिक हिंदी कविता में भी इसकी ध्वनि बहुत तीव्र सुनाई देती है। इनमें आपदाओं के हृदय विदारक चित्र उकेरे हुए दिखाई देते है। हमारा देश अकाल और सूखे की मार प्रतिवर्ष झेलता है और यह भी एक सर्वविदित तथ्य है की प्राकृतिक आपदाओं में जान माल का सबसे अधिक नुकसान सूखा या अकाल के कारण होता है। बार-बार पड़ने वाले अकाल की विषमतम स्थितियों का चित्रण करते हुये शिवराम लिखते है।

कभी-कभी नहीं
अक्सर ही होता है यहाँ ऐसा
कि अकाल मंडराने लगता है
बस्ती दर बस्ती
गाँव दर गाँव
रूठ जाते हैं बादल
सूख जाती हैं नदियाँ
सूख जाते हैं पोखर-तालाब कुएँ -बावड़ी सब
सूख जाती है पृथ्वी
बहुत -बहुत भीतर तक आदमी हो जाता है
अचानक बेहद सस्ता
सस्ते मजदूर, सस्ती स्त्रियाँ
बाजार पट जाते हैं, दूर -दूर तक मजबूर मजदूरों
और नौसिखिया वेश्याओं से
गाँव के गाँव
हाथ फैलाए खड़े हो जाते हैं शहरों के सामने
रहमदिल सरकार
खोलती है राहत कार्य
होशियार और ताकतवर लोग
उठाते हैं अवसर का लाभ
भोले और कमजोर लोग
भरते हैं समय का खामियाजा
कभी-कभी ही नहीं

अक्सर ही होता है यहाँ ऐसा।

कवि अनिल जनविजय अपनी कविता शीर्षक 'अकाल' में अकाल को शैतान का दर्जा देते हुए उसे काल के समान मानते हुए लिखते है –

अकाल
जब आता है
अपने साथ लाता है
अड़ियल बैल से बुरे दिन
अकाल भेद नहीं करता
खेत, पेड़, पशु और आदमी में
बाज की तरह आकाश से उतरता है
हरे-भरे खेतों की छाती पर
फसल को जकड़ता है पंजों में
खेत से खलिहान तक सरकता है
धुंध की तरह गिरता है
थके हुए उदास पीले चेहरों पर
लोगों की आँखों में उतर आता है
पेट पर हल्ला बोलता है, शैतान
जब भी आता है
लाता है बुरे दिन
काल बन जाता है अकाल

हिंदी के वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह अपनी बहुचर्चित कविता 'अकाल में सारस' में प्रवासी पक्षी सारस के माध्यम से बढ़ती शहरीकरण की प्रवृति पर व्यंग करते हुए लिखते है–

तीन बजे दिन में
आ गए वे
जब वे आए
किसी ने सोचा तक नहीं था
कि ऐसे भी आ सकते हैं सारस
पानी को खोजते
दूर-देसावर से आए थे वे
सो, उन्होंने गर्दन उठाई
एक बार पीछे की ओर देखा

न जाने क्या था उस निगाह में
दया कि घृणा
पर एक बार जाते-जाते
उन्होंने शहर की ओर मुड़कर
देखा जरूर
फिर हवा में
अपने डैने पीटते हुए
दूरियों में धीरे-धीरे
खो गए सारस

सारस की आँखों में दया या घृणा का भाव मानवीय समाज की प्रगति की अवधारणा पर गहरा प्रश्नचिन्ह लगाता है। हिंदी के प्रसिद्ध प्रगतिवादी कवि नागार्जुन अकाल और उसके बाद की स्थितियों का चित्रण करते हुए लिखते है -

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।
दाने आए घर के अंदर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठी घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद।
(अकाल और उसके बाद-नागार्जुन)

जब भी आपदा आती है मनुष्य और समाज गहरी नकारात्मकता से घिर जाता है लेकिन यह मनुष्य ही है जो त्रासदी की स्थितियों से बाहर निकलने का प्रयास भी करता है। केदारनाथ सिंह अपनी एक अन्य कविता 'अकाल में दूब' में आपदा की स्थितियों में सकारात्मकता मानवीय जिजीविषा को बनाये रखने की कामना करते हुए लिखते है -

भयानक सूखा है
पक्षी छोड़कर चले गए हैं
पेड़ों को
बिलों को छोड़कर चले गए हैं चींटे
चींटियाँ
कहते हैं पिता

ऐसा अकाल कभी नहीं देखा
ऐसा अकाल कि बस्ती में
दूब तक झुलस जाए
सुना नहीं कभी
दूब मगर मरती नहीं -
कहते हैं वे
और हो जाते हैं चुप
निकलता हूँ मैं
दूब की तलाश में
खोजता हूँ परती-पराठ
झाँकता हूँ कुँओं में
छान डालता हूँ गली-चौराहे
मिलती नहीं दूब
अंत में
सारी बस्ती छानकर
लौटता हूँ निराश
लाँघता हूँ कुएँ के पास की
सूखी नाली
कि अचानक मुझे दिख जाती है
शीशे के बिखरे हुए टुकड़ों के बीच
एक हरी पत्ती
दूब है
हाँ-हाँ दूब है -
पहचानता हूँ मैं
लौटकर यह खबर
देता हूँ पिता को
अँधेरे में भी
दमक उठता है उनका चेहरा
'है - अभी बहुत कुछ है
अगर बची है दूब...'
बुदबुदाते हैं वे

फिर गहरे विचार में
खो जाते हैं पिता

प्राकृतिक आपदाओ में भूकंप भय तथा सिहरन पैदा कर देता है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि भारत एक भूकंप प्रभावित क्षेत्र में आता है लातूर और भुज और उत्तरकाशी में आने वाले विनाशकारी भूकम्पों को लोग भूले नहीं है और हमने अपने शहरों का विकास इस तरह से किया है की आज हमारे देश की एक बड़ी आबादी को सबसे बड़ा खतरा भूकंप से ही है कविता वाचक्नवी अपनी कविता 'भूकंप' में पृथ्वी का मानवीकरण करते हुए उसकी वेदना का हृदयस्पर्शी चित्र उपस्थित करते हुए लिखती है –

मेरे हृदय की कोमलता को
अपने क्रूर हाथों से
बेध कर
ऊँची अट्टालिकाओं का निर्माण किया
उखाड़ कर प्राणवाही पेड़-पौधा
बो दिए धुआँ उगलते कल-कारखाने
उत्पादन के सामान सजाए
मेरे पोर-पोर को बींध कर
स्तंभ गाड़े
विद्युतवाही तारों के
जलवाही धारों को बाँध दिया।
तुम्हारी कुदालों, खुरपियों, फावड़ों,
मशीनों, आरियों, बुलडोजरों से
कँपती थरथराती रही मैं ।
मैं थोड़ा हिली तो लो
भरभरा कर गिर गए तुम्हारे घर ।
फटा तो हृदय मेरा ही ।

प्राकृतिक आपदाओं में बार-बार बाढ़ का आना एक बुरे दुस्वप्न की तरह है। हमने नदियों पर अप्राकृतिक रूप से बाँध बनाकर और उनकी दिशाओं को परिवर्तित करके स्वयं विनाश को निमंत्रण दिया है। हिंदी कवि बाढ़ से होने वाले मानवीय विनाश को अनेक स्वरों में चित्रित करता है। अच्युतानंद मिश्र की कविता 'बाढ़-2008' में बाढ़ के अनेकानेक चित्र प्रस्तुत किये गए है। मीडिया प्राकृतिक आपदाओं की खबरों को जैसे विज्ञापन की तरह बेचता है कवि उस पर तीखा व्यंग करता है-

हर तरफ अथाह जल
जैसे डूब जाएगा आसमान
यही दिखाता है टीवी
एक डूबे हुए गाँव का चित्र
दिखाने से पहले
बजाता है एक भड़कीली धुन
और धीरे-धीरे डूबता है गाँव
और तेज बजती है धुन ...
डूबता हुआ गाँव एक खबर है
डूबता हुआ बच्चा एक खबर है
खबर के बाहर का गाँव
कब का डूब चुका है
बच्चे की लाश फूल चुकी है
फूली हुई लाश एक खबर है ...

हमारे देश में आने वाली प्राकृतिक आपदाओ के समय जनता के प्रतिनिधि दिखाई नहीं देते परन्तु आपदाओं के बाद अनेक राजनीतिक दल राजनीति करते जरूर दिखाई दे जाते है ऐसे जनता के प्रतिनिधियों पर तीव्र व्यंग करते हुए अच्युतानंद मिश्र लिखते हैं -

जब डूब रहा था सब-कुछ
तुम अपने मजबूत किले में बंद थे
जब डूब चुका है सब-कुछ
तुम्हारे चेहरे पर अफसोस है
तुम डूबे हुए आदमी के प्रतिनिधि हो...

बिहार प्रांत की कोसी नदी के कारण वहां की जनता बार-बार बाढ़ का दंश झेलती है और बड़ी संख्या में लोग मारे जाते हैं या पलायन करने पर मजबूर हो जाते हैं इसी पीड़ा का जिक्र करते हुए कवि सुशील कुमार लिखते है -

पानी घट रहा
कि पानी बढ़ रहा!
कोसी मंद पड़ रही
कि कोसी समा रही!
जन-जन की आँख में
नीर बनकर,

हृदय में लोगों के

दुस्सह पीड़ बनकर!!

2013 में उत्तराखंड में आयी केदारनाथ त्रासदी पर अनेकानेक कविताएँ लिखी गयी है। हिमालय की नदियों को बाँध बनाकर बाँधने के मानवीय प्रयास और वहा के धार्मिक स्थलों को पर्यटन स्थलों में तब्दील किये जाने पर कवि गहरी चिंता प्रकट करता है जसवीर चावला अपनी कविता 'स्वीकारोक्ति' में लिखती है –

खण्ड खण्ड

उत्तराखण्ड

नदियों पर निर्माण

हर प्रखण्ड

विनाश तय लिखा शिलाखण्ड

नहीं चला

पर्यटन पाखंड

क्यों सहती धरती

तय था दंड

चिन्तामणि जोशी अपनी कविता **'आपदा 2013 : हिमालयन सुनामी'** में केदारनाथ त्रासदी के लिए पर्यावरण में बढ़ते मानवीय हस्तक्षेप को मुख्य कारण मानते हुए लिखते हैं –

सदियों की पीड़ा

और आक्रोश को समेटे

धरती के

धैर्य का तटबंध

अँखिर आज टूट ही गया

और बह निकली

हिमालयन सुनामी

खंड-खंड हो गया

केदारखंड।

सन 2004 में एशिया महाद्वीप में आयी सुनामी ने हजारों लोगों को लील लिया था। हिंदुस्तान के समुंद्री तट भी पहली बार सुनामी की लहरों से दहल उठे थे। समुन्द्र का पानी शहरों के भीतर तक उतर आया था। कवि यादवचन्द्र अपनी संवेदना निम्न शब्दों में व्यक्त करते है –

नहीं जानती सुनामी बच्ची

अपना माँ-बाप, गाँव-घर

नहीं जानती सुनामी बच्ची
अपना देश-जाति, धर्म-ईश्वर
नहीं जानती सुनामी बच्ची
राग-विराग, नेह -संवेदना
नहीं जानती सुनामी बच्ची
शुभ-अशुभ, सुन्दर-असुन्दर
उस के होठों पर चुपड़ी है
मौत-सी सख्त बर्फ
नहीं जानती सुनामी बच्ची
दूध और जहर का फर्क
लेकिन याद रखो
कल सुनामी बच्ची की मुठ्ठी में
बन्दूक होगी
और तुम्हारे मुहँ पर थूकने के लिए
हर जुबान पर थूक होगी
आ...क.....थू !

2 दिसम्बर1984 की रात को मिथाइलआइसोसाइनाइट (मिक) नामक जहरीली गैस के रिसाव से घटी भोपाल गैस त्रासदी मानवीय विनाश की सबसे क्रूरतम त्रासदियों में से एक है। जिसमें हजारों की संख्या में निर्दोष नागरिक और पशु-पक्षी मारे गए। 32 वर्ष गुजर जाने के बाद भी हजारों लोग आज भी उसके देश को झेल रहे है। यहाँ तक की मुआवजे के लिए अभी तक भटक रहे है और सबसे क्रूरतम तथ्य यह कि अभी तक मुख्य आरोपी पकड़ें नहीं गए हैं। यह घटना मानवीय लापरवाही का सबसे भयावह उदहारण है। संवेदनशील कवि इस घटना के लिए सत्ता, शक्ति, और सम्पति के स्वार्थ को जिम्मेदार मानता है। आधुनिक कवि रक्तबीज अपनी कविता 'एक कविता, भोपाल गैस त्रासदी पर' में इन शब्दों में अपनी व्यथा व्यक्त करते हैं -

शून्य हो कर
खो गया है आंख से।
पानी नहीं है।
हवा के झोंके ने नहीं मारा इन्हें
जहर ने नहीं ली इनकी जान
ये मारे गए कागजों पर हुए हस्ताक्षरों से
समझौतों और साजिशों से

सोच और स्वार्थ से
संपत्ति और सत्ता की खातिर
सतही वादों और संगीन चालों के चलते।
नस्लें बर्बाद हो गई

कवि मानता है कि यह घटना सिर्फ हिंदुस्तान की नहीं है। ऐसी स्वार्थपरक घटनाओं का मुआवजा एशिया और अफ्रीका के बहुत सारे गरीब देश भुगत रहे है। रासायनिक प्रयोग की इस आपदा को स्थानीय कहकर झुटलाना बईमानी होगी क्योंकि ऐसी घटनाओं के लिए दोषी लोग वैश्विक समझोते की आड़ में गाँधी जी के आदर्श की धज्जियाँ उड़ाते हुए साफ बच निकलते है कवि आगे लिखता है –

इन्हें उस खास किस्म की
नस्ल ने मारा है
जो देश, दुनिया के हर कोने में फैल चुकी है
अफ्रीका में भी और मध्य एशिया में
कंधार में भी और कुदानकुलम में
जो लगातार हवा, पानी, जमीन में
जहर घोल रहे हैं.
एक त्रासदी की अंधी आंखें
इन लोगों का चेहरा खोज रही हैं
और ये नकाबपोश
गांधी के बंदरों को मदारी की तरह नचाते
अब हर शहर, गांव घूम रहे हैं

कवि की सदिच्छा है की कभी भी भविष्य में, भोपाल जैसी त्रासदी दोबारा कभी न हो और इस तरह की घटनाओं को रोकने के लिए आवश्यक है सबको मिलकर इसका प्रतिरोध करना होगा और ऐसी स्वार्थपरक प्रवृत्ति की नस्ल को ही जमीदोज करना होगा कवि लिखता है –

भोपाल गैस कांड को याद करो
इस नस्ल को
बधिया कर दो
इनकी जड़ों में इतना पानी भर दो
कि ये डूब मरें
सड़ें
फिर दोबारा न जन्मने पाएं

रोको
इस गैस को रोको
एक और भोपाल होने से रोको
इसके पहले कि हम
इस नस्ल के हाथों मारे जाएं
अपनी नस्लों को गंवाएं
इन आबादियों को तड़पकर
घुट-घुटकर मरता देखें
आओ, इन्हें रोक दें

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिंदी का आधुनिक कवि प्राकृतिक और मानवीय आपदाओं के प्रति अत्यधिक संवेदनशील है। उसकी चिंतायें केवल भारतीय परिवेश को संबोधित नहीं करती अपितु वैश्विक परिदृश्य में घट रही अप्राकृतिक आपदाओं का भी वृहत्तर परिवृत बनाती है। मनुष्य द्वारा प्रकृति के निरंतर किये जा रहे दोहन से ही इन घटनाओं की आवृति और घनत्व बढ़ गया है, आधुनिक कवि इन परिस्थितियों को बहुत करीब से अनुभूत कर रहा है। क्षरित होती मृदा, घटते हुए वन क्षेत्र, बढ़ती हुई जनसंख्या का दबाव, उद्योगीकरण, नगरीकरण और आधुनिकीकरण, उपभोक्तावादी स्वार्थ केंदित अर्थव्यवस्था के कारण प्रदूषण तेजी से बढ़ रहा और ओजोन परत लगातार छिद्रित होती चली जा रही है। ऐसे में समूची मानवीय सभ्यता का अस्तित्व आज खतरे में है। इसलिए वैदिक साहित्य में उपस्थित उस शांति प्रार्थना की आवश्यकता आज सबसे ज्यादा है जो हमें हमारे पर्यावरण के प्रति जागरूक और निष्ठावान बने रहने का सन्देश देती है। उदयप्रकाश अपनी कविता 'बचाओ' में पर्यावरण के प्रति इसी निष्ठा को अभिव्यक्त करते हुए लिखते है -

बचाना है तो बचाए जाने चाहिए गाँव में खेत,
जंगल में पेड़, शहर में हवा,
पेड़ों में घोंसलें,
अखबारों में सच्चाई,
राजनीति में नैतिकता,
प्रशासन में मनुष्यता,
दाल में हल्दी

8674, शीदी पुरा, करोल बाग, नई दिल्ली–110005, दूरभाष–9560020228

शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मो. – 07296976188
ई–मेल – jeetendram442@gmail-com

# स्त्री स्वातंत्र्य का प्रश्न और 'ध्रुवस्वामिनी'

जीतेन्द्र कुमार मीना

**एक विवाहित स्त्री को उसके पति, परिवार तथा समाज द्वारा इस प्रकार बंधनों में जकड़ लिया जाता है कि वह अगर थोड़ा भी स्वतंत्र होने का प्रयास करती है, अपनी पितृसत्ता से इतर छवि निर्मित करने की कोशिश करती है, आत्मनिर्भर होने का विचार पालती है तो उसकी इस योजना या प्रयास को पितृसत्ता के पैरोकार पति, परिवार, समाज प्रस्फुटित होने से पूर्व ही दबा देते हैं।**

'ध्रुवस्वामिनी' (1933) जयशंकर प्रसाद की सबसे सफल एवं अंतिम नाट्यकृति है। कथानक एवं रंगमंचीय दृष्टि से यह उनकी बेजोड़ रचना है। इस नाटक में नारी जीवन की विकराल समस्या विवाह-मोक्ष या विधवा विवाह की समस्या को चित्रित किया गया है। यह नाटक नायिका प्रधान है। इतिहास प्रसिद्ध कथानक के माध्यम से वर्तमान कुरीतियों पर दृष्टिपात करना प्रसाद का मुख्य उद्देश्य रहा है। प्रसाद के नाटकों का कथानक चाहे ऐतिहासिक हो लेकिन उनमें जो स्त्री चित्रित की गई है वह पूरी तरह से स्वतन्त्रता आंदोलन के समय की स्त्री है। इस युग में नारी के विषय में सभी दृष्टिकोणों से सोचा जाने लगा था। तत्कालीन भारतीय समाज में नारी के अधिकारों के लिए आवाज उठने लगी थी।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के परिप्रेक्ष्य में बात की जाए तो कहा जा सकता है कि प्रसाद अपने समय से भी आगे के रचनाकार हैं। प्रसाद के साथ-साथ अन्य रचनाकार भी तत्कालीन परिस्थितियों में विवाह के नैतिक-अनैतिक स्वरूप की व्याख्या कर रहे थे। प्रसाद के समकालीनों में प्रेमचंद ने

'निर्मला' उपन्यास में बेमेल विवाह की समस्या को उकेरा है वहीं जैनेन्द्र कुमार ने 'त्यागपत्र' में। 'निर्मला' एवं 'त्यागपत्र' उपन्यासों की नायिकाएँ अनमेल विवाह की त्रासदी को झेल रही होती हैं लेकिन यहाँ समस्या का कोई उचित समाधान नहीं सुझाया जाता। प्रसाद एक ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने अपने सम्पूर्ण साहित्य में प्रेम और विवाह के प्रश्नों को यथार्थ रूप में उठाया है। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की रचना जिस समय में की गई थी तब भारत में कानूनी रूप से 'तलाक का अधिकार' कानून भी लागू नहीं हुआ था। यह 1956 ई. में 'हिन्दू कोड बिल' के अंतर्गत लागू किया गया था। जबकि प्रसाद ने 1933 ई. में अपने 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में यह अधिकार भारतीय स्त्री को प्रदान करके साहित्य के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी कार्य किया। प्रसाद ने इस नाटक में विवाह-संस्था को नकारा नहीं है लेकिन इसके अंतर्गत स्त्री के होने वाले शोषण से मुक्ति का मार्ग अवश्य प्रदान किया। विवाह के पश्चात पुरुष स्त्री को अपनी निजी संपत्ति समझता है, जिसका वह जैसे चाहे इस्तेमाल कर सकता है। स्त्री इस प्रवृति के प्रतिरोध हेतु कुछ नहीं कर सकती थी क्योंकि भारतीय समाज पुरुष को यह अधिकार प्रदान करता था कि वह अपनी इच्छानुसार अपनी पत्नी को रख या भोग सकता था। इसी दुविधापूर्ण स्थिति में स्त्री कुछ निर्णय नहीं ले पाती थी और पति के द्वारा उत्पीड़न, शोषण का शिकार होती रहती थी। प्रसाद पहली बार विवाह संस्था के अंतर्गत उत्पीड़ित, शोषित, दमित स्त्री के अधिकारों के लिए लड़ते दिखाई देते हैं, उन्हें इससे मुक्ति का रास्ता सुझाते हैं। आलोचक राजकिशोर का मत है 'लेकिन यदि विवाह यंत्रणापूर्ण हो जाये, तो? उससे मुक्ति का कुछ उपाय होना चाहिए। प्रसाद ने स्त्री-पुरुष के संबंध के इस पहलू के बारे में तब सोचा, जब तलाक को हिन्दू समाज में मान्यता नहीं मिली थी।.... 'ध्रुवस्वामिनी' का महत्व इसी में है।'

एक विवाहित स्त्री को उसके पति, परिवार तथा समाज द्वारा इस प्रकार बंधनों में जकड़ लिया जाता है कि वह अगर थोड़ा भी स्वतंत्र होने का प्रयास करती है, अपनी पितृसत्ता से इतर छवि निर्मित करने की कोशिश करती है, आत्मनिर्भर होने का विचार पालती है तो उसकी इस योजना या प्रयास को पितृसत्ता के पैरोकार पति, परिवार, समाज प्रस्फुटित होने से पूर्व ही दबा देते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में ध्रुवस्वामिनी को इसी पितृसत्ता द्वारा स्थापित मानदंडों के अनुरूप ढालने का प्रयास किया जाता है। हिन्दू विवाह में अग्निवेदी पर पुरुष द्वारा यह प्रतिज्ञा की जाती है कि वह अपनी पत्नी के सुख-दुख में हमेशा साथ रहेगा, उसकी मर्यादा, गौरव की रक्षा करेगा। लेकिन वास्तविक रूप में क्या पुरुष यह निभा पाता है? जिस प्रकार का व्यवहार पालतू पशुओं के साथ किया जाता है, उसी प्रकार स्त्री को भी पुरुष अपनी मिल्कियत समझता है। जिस प्रकार पशुओं को अपनी इच्छानुसार खरीदा-बेचा जा सकता है उसी प्रकार स्त्री को भी अपनी संपत्ति समझ उसे उपहारस्वरूप ले-दे सकता है। ध्रुवस्वामिनी का कथन दृष्टव्य है 'कुछ नहीं मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-संपत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास

बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो।' ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त की धार्मिक रूप से पत्नी है लेकिन न तो वह रामगुप्त को अपना पति मान पाती है और न ही रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी के साथ नैतिक आचरण करता है। ध्रुवस्वामिनी की भाँति ही न जाने कितनी स्त्रियाँ इस विवाह संस्था के अंतर्गत घुटती-पिसती रहती हैं तथा जीते-जी मरने का-सा या आत्महत्या करने का प्रयास करती हैं। विवाह संस्था की इसी नैतिकता के बीच व्याप्त अनैतिकता के कारण विवाह को स्त्री जीवन के लिए काला अध्याय माना जा सकता है क्योंकि जिस दिन विवाह होता है उसी दिन से स्त्री हजारों प्रकार के बंधनों में जकड़ जाती है। पुरोहित मंदाकिनी के कथन को सुनकर विवाह के नैतिक स्वरूप की व्याख्या करते हैं- ''पुरोहित- नहीं, स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है। यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल हैं।''

'ध्रुवस्वामिनी' में रामगुप्त वैवाहिक सम्बन्धों का निर्वाह शस्त्रसम्मत नहीं करता है। विवाहित संबंधों में जिस विश्वास, सहयोग की आवश्यकता होती है उसका क्लीव रामगुप्त में नितांत अभाव मिलता है। यही कारण है कि ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त के द्वारा दी गई उपाधि महादेवी को अस्वीकार कर देती है ''ध्रुवस्वामिनी- नहीं! मनुष्य की दी हुई उपाधि में लौटा देती हूँ।'' वह अपने अस्तित्व के प्रति जाग्रत होकर, खुलकर प्रश्न करती है कि ''आज यह निर्णय हो जाना चाहिए कि मैं कौन हूँ।'' यह प्रश्न प्रत्येक विवाहित स्त्री के समक्ष उपस्थित रहता है क्योंकि उसकी निजी सत्ता का हरण विवाह द्वारा कर लिया जाता है। जान स्टुअर्ट मिल विवाह के कानून को तानाशाही का कानून मानते हैं जिसके द्वारा पुरुष स्त्रियों की सारी संपत्ति का मालिक बन जाता है 'विवाह से उन्हें एक ऐसा मालिक मिलता है जो उनकी संपत्ति का स्वामी बन जाता है।' विवाह को इस तरह धर्मसम्मत बना दिया गया है कि स्त्री अपना अस्तित्व खुद में न देखकर पति में ही देखती है। वह खुद को मिटाकर पति का अस्तित्व बनती है। लेकिन जब वही पुरुष क्लीव हो, नपुंसक हो, तो प्रश्न यह उठता है कि स्त्री अपना अस्तित्व किसमें देखे? ध्रुवस्वामिनी अपने इसी अस्तित्व के लिए लड़ती है। वह क्लीव एवं नपुंसक पति की महादेवी बनना शास्त्रों के विरु) जाकर अस्वीकार करती है। ध्रुवस्वामिनी के इसी खोये अस्तित्व की तलाश में मंदाकिनी प्रश्न करती है ''मंदाकिनी- और वह ध्रुवस्वामिनी! जिसे कुछ दिनों तक तुम लोगों ने महादेवी कहकर संबोधित किया है वह क्या है? कौन है? और उसका कैसा अस्तित्व है? कहीं धर्मशास्त्र हो तो उसका मुँह खुलना चाहिए।'' उपर्युक्त कथन से दृष्टिगत होता है कि मंदाकिनी ध्रुवस्वामिनी के ही आंतरिक विद्रोह को ही अभिव्यक्त कर रही है। रंग समीक्षक महेशानन्द मानते हैं कि ''मंदाकिनी ध्रुवस्वामिनी के ही भीतरी विद्रोह को साकार रूप देती हुई, उसी के व्यक्तित्व का एक हिस्सा लगती है।''

प्रसाद धर्म के रास्ते से ही ध्रुवस्वामिनी को विवाह के भ्रांतिपूर्ण बंधनों से मुक्ति की राह दिखाते हैं। धर्माधिकारी पुरोहित रामगुप्त को गौरव से नष्ट तथा आचरण से पतित, क्लीव बताते हुए ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त से मुक्त करने की धर्मसम्मत आज्ञा देते हैं- ''पुरोहित- मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।'' प्रसाद जी जानते थे कि विवाह संस्था धार्मिक कर्मकांडों में जकड़ी हुई है इसीलिए आलोच्य नाटक में उन्होंने ध्रुवस्वामिनी, मंदाकिनी तथा पुरोहित के आपसी संवाद में विवाह पर धर्म के अनैतिक बंधनों से मुक्ति की वकालत की है। शास्त्र, कर्मकांड आदि पुरुष निर्मित हैं इसीलिए वे हमेशा पुरुषों की इच्छा का पालन करते दृष्टिगत होते हैं। यही कारण है कि ध्रुवस्वामिनी विवाह संस्था पर धर्म के अनैतिक दबाब पर प्रश्नचिह्न लगती है- ''संसार मिथ्या है या नहीं, यह तो मैं नहीं जानती, परंतु आप, आपका कर्मकांड और आपके शास्त्र क्या सत्य हैं, जो सदैव रक्षणीया स्त्री की यह दुर्दशा हो रही है?.....इतना बड़ा उपहास-धर्म के नाम पर स्त्री की आज्ञाकारिता की यह पैशाचिक परीक्षा मुझसे बलपूर्वक ली गई है। पुरोहित तुमने जो मेरा राक्षस विवाह कराया है, उसका उत्सव भी कितना सुंदर है!''

विवाह के द्वारा एक स्त्री के सम्पूर्ण अधिकार पति के अधीन गिरवी रख दिये जाते हैं। विवाह संस्था की एक खामी यह भी है कि पुरुष को बहुविवाह या तलाक की छूट है लेकिन स्त्री के लिए ऐसा कोई अधिकार नहीं होता है। यदि पुरुष दूसरा विवाह करने की सोचता है तो पहली पत्नी के लिए यह आवश्यक होता है कि वह अपनी सपत्नी या सौत को ईर्ष्या से न देखकर, हँसकर उसका स्वागत करे। इस नाटक में शकराज शायद कोमा से यही सब करने की उम्मीद करता है। प्रश्न उठता है कि क्या कोई पुरुष अपनी पत्नी के दूसरे पति या पुरुष मित्र की कल्पना कर पाता है? पुरुष ऐसा कभी नहीं चाहता तो स्त्री से ही उम्मीद क्यों की जाती है? कोमा शकराज की हँसकर स्वागत करने की उम्मीद को पूरा नहीं कर पाती है।

'ध्रुवस्वामिनी' में मंदाकिनी धार्मिक कर्मकांडों के कारण विवाहित स्त्री की हुई दयनीय स्थिति की तरु इशारा करते हुए पुरोहित से कहती है ''आर्य! आप बोलते क्यों नहीं? आप धर्म के नियामक हैं। जिन स्त्रियों को धर्म बंधन में बांधकर, उनकी सम्मति के बिना आप उनका सब अधिकार छीन लेते हैं, तब क्या धर्म के पास कोई प्रतिकार- कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ते, जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में अवलंब मांग सकें?'' आलोचक अरविंद जैन के अनुसार ''सामंती परिवार सत्ता से प्रजातांत्रिक राजसत्ता (आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और वैधानिक) तक में आज भी स्त्री की स्थिति, सम्मान और अधिकार क्या हैं? विवाह से विवाह विच्छेद तक के निर्णयों में उसका अपना निर्णय कहाँ और कितना है? एक संबंध से मुक्त होने की विवशता से लेकर दूसरे संबंध में बंधने की मजबूरी के पीछे स्त्री कितनी अपमानित, आहत और असहाय है?'' 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की पात्र कोमा अपने दाम्पत्य संबंधों का निर्वाह स्नेह-समर्पण के साथ करती

है, लेकिन सामंती मानसिकता से ग्रस्त उसका पति शकराज उसके इस स्नेह संबंध को एक स्त्री की खातिर तोड़ देता है। जैसा कि कहा जाता है स्त्री के शोषण का एक कारण उसका जज्बाती होना है। कोमा शकराज के द्वारा उसके स्नेह-विश्वास को खंडित कर देने के पश्चात भी उन स्नेह संबंधों रूपी डोर से बंधे रहना चाहती है क्योंकि इसे उसने आँसुओं से सींचा है। लेकिन शकराज जैसा हीन मानसिकता का पुरुष कोमा के आँसुओं का मूल्य नहीं समझता है।

ध्रुवस्वामिनी में जहाँ एक ओर स्त्रियोचित कमजोरी दिखाई देती है तो वहीं विपरीत परिस्थितियों में स्वाभिमान की भावना भी देखी जा सकती है। प्रारम्भ में वह अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए रामगुप्त के सामने गिड़गिड़ाती है लेकिन बात बनते न देख उसके अंदर स्वाभिमान की भावना जाग्रत हो जाती है। वह आक्रोश के साथ कहती है ''मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं स्वयं करूंगी।'' वह पितृसत्ता द्वारा निर्मित स्त्री की परंपरागत छवि के तिलिस्म को तोड़ती है। वह पारंपरिक पत्नी की तरह पति के अत्याचारों, शोषण, आरोपों-प्रत्यारोपों आदि को सिर झुकाकर स्वीकार करने से इंकार कर देती है। वह नहीं मानती अपने पति के आदेशों को, नहीं पूजती अपने पति के चरणों को, वह पति की दासी बनना स्वीकार नहीं करती, नहीं मानती धर्म की अनैतिकता को। वह अपनी जिंदगी को अपनी इच्छानुसार जीना चाहती है और यही धर्म के ठेकेदारों और पितृसत्ता के पैरोकारों को स्वीकार नहीं। समाज के इसे पैरोकार ध्रुवस्वामिनी जैसे आत्मसम्मानी स्त्री की पितृसत्ता तथा धर्म द्वारा स्थापित स्त्री की काल्पनिक भूमिका से इतर छवि को मानने से इंकार करते हैं। आज की नारी अपनी काल्पनिक छवि के छद्म को तोड़ती चाहती है। देवेंद्र ईस्सर के अनुसार 'वे अपनी परंपरागत छवि को तोड़ना चाहती हैं जो पुरुषों द्वारा निर्मित की गई है। वे पुरुषों द्वारा नहीं अपने द्वारा परिभाषित होना चाहती हैं। नारी का शरीर उसका अपना शरीर है जिस पर उसका पूरा अधिकार होना चाहिए।'' 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के आधार पर कह सकते हैं कि प्रसाद विवाह को तो स्वीकार करते हैं लेकिन उसमें अंतर्निहित शोषण के तत्वों को नहीं। इस नाटक में रामगुप्त से मुक्त ध्रुवस्वामिनी का चन्द्रगुप्त की महादेवी बन जाना कई आलोचकों के लिए प्रश्नचिह्न बन जाता है। इसकी अंतिम परिणति के विषय में ही राजकिशोर उल्लेख करते हैं कि 'नारी मुक्ति से जुड़ा एक पहलू यह भी है कि क्या विवाह ही स्त्री के जीवन का लक्ष्य है? क्या स्त्री की नियति एक पुरुष से दूसरे पुरुष तक भटकने की है? रामगुप्त से मुक्त होकर क्या ध्रुवस्वामिनी के लिए आवश्यक था कि वह तुरंत चन्द्रगुप्त की महादेवी हो जाती? क्या स्त्री का अपना स्वतंत्र जीवन नहीं हो सकता?''

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की प्रासंगिकता यही है कि प्रसाद ने समाज तथा धर्म द्वारा विवाह रूपी संस्था के माध्यम से स्त्री पर लगाये गये अनैतिक बंधनों को ध्वस्त करने का सरहनीय प्रयास किया है। पुरुष द्वारा निर्मित स्त्री की पराधीन छवि उसके मानस में बैठ गई है जिसके कारण वह

अपने-आप को स्वतंत्र बनाने के लिए प्रयत्न भी नहीं करती है। स्त्री सबकुछ जानते-समझते हुए भी प्रतिरोध न करके गुलाम बनी रहती है। ध्रुवस्वामिनी का कथन यहाँ दृष्टव्य है- ''ध्रुवस्वामिनी- पराधीनता की एक परंपरासी उनकी नस-नस में, उनकी चेतना में न जाने किस युग से घुस गई है। उन्हें समझ कर भी भूल करनी पड़ती है।'' आलोच्य नाटक में ध्रुवस्वामिनी स्त्री के मानस में पराधीनता की जिस परंपरा की बात करती है उसी परंपरा को तोड़ने का कार्य आधुनिक स्त्री कर रही है। आधुनिक स्त्री अपनी उस वास्तविकता को समझ रही है जिसके कारण वह बंदी है। सिमोन द बोउआर कि पुस्तक 'द सेकंड सेक्स' में उक्त जिस एक पंक्ति को हम स्मारकीय मानते हैं 'स्त्री पैदा नहीं होती, बना दी जाती है' उससे लगभग दो दशक पूर्व जयशंकर प्रसाद 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में मंदाकिनी के माध्यम से उसी बात को व्यक्त कर रहे थे- ''मंदाकिनी- भगवान ने स्त्रियों को उत्पन्न करते ही अधिकारों से वंचित नहीं किया है। किन्तु तुम लोगों की दस्यु-वृत्ति ने उन्हें लूटा है।'' अर्थात पुरुषों की कुत्सित-कुटिल अवैज्ञानिक नीतियों ने उन्हें अपने स्त्रियोचित अधिकारों से वंचित किया है। स्त्री हो या पुरुष, जन्म के समय दोनों के अधिकार बराबर होते हैं लेकिन पितृसत्तात्मक समाज द्वारा स्त्रियों को कर्तव्यों के ऐसे जंजाल में फंसा दिया जाता है कि वह अपने नैसर्गिक कर्तव्यों को भूलकर पुरुष निर्मित कर्तव्यों को ही वास्तविक मानने लगती है।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की प्रासंगिकता पर महेशानन्द लिखते हैं ''यह पहला हिंदी नाटक है जहाँ व्यक्ति ने राजनीति और धर्म से सीधे प्रश्न करते हुए अपनी अस्मिता के लिए आवाज उठाई है। अस्मिता का यही प्रश्न देश के सम्मान और गौरव का प्रश्न बन जाता है।..... नारी को पशु संपत्ति मानने वाले वर्ग के प्रति प्रसाद का आक्रोश एवं विवाह-मोक्ष की व्याख्या में उनका जो स्वर उभरता है, वह समस्त बुर्जूबा व्यवस्था के प्रति गहरा आक्रोश बन जाता है। यहाँ रामगुप्त की नपुसंकता का प्रश्न मुख्य नहीं है, उस व्यवस्था की नपुसंकता का है जो अपनी कायरता और निर्जीवता को छुपाने के लिए तरह-तरह के नियमों और बहानों से सुरक्षित रखती है।'' प्रेम और विवाह के प्रति प्रसाद की स्पष्ट धारणा को देखते हुए ही नाटककार मीराकांत 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक को समय से आगे का नाटक मानती हैं- ''ध्रुवस्वामिनी' नाटक में तलाक या संबंध-विच्छेद और विधवा विवाह के साथ प्रेम को प्रसाद ने स्त्री की दृष्टि से देखा है। अब तक स्त्री प्रश्न व प्रेम प्रायरू पुरुष दृष्टि से ही देखा गया था। इस दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' समय से आगे का नाटक है।'' तत्कालीन समाज में स्त्री की दयनीय स्थिति का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है की एक राजा की पत्नी होकर भी ध्रुवस्वामिनी को क्रय-विक्रय की वस्तु बनने पर मजबूर किया जाता है, उसका तिरस्कार, अपमान किया जाता है। वह राजनीतिक प्रतिशोध का मोहरा भी बनती है। यह सब एक महादेवी के साथ घटित होता है। अगर राज्य का राजा ही स्त्री के प्रति इतनी हीन मानसिकता से ग्रस्त है तो आम स्त्री की स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है। प्रसाद ने आलोच्य नाटक में स्त्री को इसी दयनीय स्थिति से उबारने का प्रयास किया है। उन्होंने स्त्री अधिकारों के लिए पुरजोर कोशिश की है, व्यवस्था से तीखे-कटु प्रश्न किए हैं, स्त्रियों में चेतना जगाने का

प्रयास किया है। जिस महत्वपूर्ण कार्य को गांधीजी राजनीतिक-सामाजिक क्षेत्र में कर रहे थे उसी कार्य को प्रसाद साहित्य के क्षेत्र में कर रहे थे। इस दृष्टि से प्रसाद का सम्पूर्ण नाट्य साहित्य विशेषकर 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक प्रशंसनीय है।

**संदभर्रू-**


1. राजकिशोर, स्त्री-पुरुष : कुछ पुनर्विचार, वाणी प्रकाशन, सं. 2006, पृ.65
2. डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र (संपादक), प्रसाद के सम्पूर्ण नाटक एवं एकाँकी, लोकभारती प्रकाशन, तृतीय संस्करण, 2008, पृ.756
3. वही, पृ.775
4. वही, पृ.779
5. वही, पृ.779
6. मिल, स्त्रियों की पराधीनता, राजकमल, नई दिल्ली, सं.2009, पृ.59
7. डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र (संपादक), प्रसाद के सम्पूर्ण नाटक एवं एकाँकी, पृ.781
8. महेशानन्द, प्रसाद : रंगदृष्टि, 'नाटक के लिए रंगमंच', नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा, दूसरा संस्करण, 2010, पृ.178
9. डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र (संपादक), प्रसाद के सम्पूर्ण नाटक एवं एकाँकी, पृ.782
10. वही, पृ.774
11. वही, पृ.775
12. अरविंद जैन, औरत होने की सजा, राजकमल, सं.2011, पृ.31
13. जयशंकर प्रसाद, ध्रुवस्वामिनी, मयूर पेपरबैक्स, सं. 2010, पृ.20
14. देवेंद्र इस्सर, स्त्री मुक्ति के प्रश्न, संवाद प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2009, पृ.106
15. राजकिशोर, स्त्री-पुरुष : कुछ पुनर्विचार, पृ.68
16. डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र (संपादक), प्रसाद के सम्पूर्ण नाटक एवं एकाँकी, पृ.776
17. वही, पृ.776
18. महेशानन्द, प्रसाद : रंगदृष्टि, 'नाटक के लिए रंगमंच', पृ.178
19. पुनर्लेखन, शोध पत्रिका, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ.121

शोधर्थी (पीएच.डी.), हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

# 'मोहन राकेश की डायरी' युग और परिवेश का दस्तावेज

ज्योत्स्ना कुमारी

**''डायरियाँ, लेखक का अपना और हाथ से किया हुआ पोस्टमार्टम होती है।... एक लेखक कैसे तिल-तिल जीता और मरता है- अपने समय को सार्थक बनाते हुए खुद को कितना निरर्थक पाता जाता है और अपनी निरर्थकता में से कैसे वह अर्थ पैदा करता है- इसी रचनात्मक आत्मसंघर्ष को डायरियाँ उजागर करती हैं। राकेश की डायरियाँ इसी आत्मसंघर्ष के सघन एकांतिक क्षणों का लेखा-जोखा है, जो वह किसी के साथ बाँट नहीं पाया या उसने बांटना मंजूर नहीं किया।''**

बहुमुखी प्रतिभा के धनी और उच्च कोटि के रचनाकार मोहन राकेश ने अपने साहित्यिक प्रयोगों द्वारा हिन्दी-साहित्य की अनेक विद्या को समृद्ध किया है। उन्होंने सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में हो रहे परिवर्तन को अपनी रचनाओं का विषय बनाये तथा परिवर्तित परिवेश के साथ-साथ अपने चिंतन में भी परिवर्तन किया। आधुनिक परिवेश उनके चिंतन और लेखन का मूल स्रोत रहा तथा विभिन्न साहित्यिक प्रयोग करते हुए भी वे अपने परिवेश से निरंतर प्रतिबद्ध रहे। वे इसी प्रतिबद्धता के कारण साहित्य के विविध रूपों पर लेखन कार्य के लिए विवश हुए। हिन्दी साहित्य को जो विविधता और सम्पन्नता मोहन राकेश ने प्रदान की वह उनकी समृद्ध सृजनात्मक प्रतिभा के कारण ही संभव हुई। कोई भी साहित्यिक विधा हो सब पर उनकी कलम साधिकार चली और उन्हें ख्याति भी मिली। कथा-साहित्य, नाटक के बाद उनकी डायरी भी हिन्दी साहित्य में एक साहित्यिक विधा तथा रचनात्मक कृति के रूप में स्थापित हो चुकी है।

हिन्दी साहित्य में डायरी साहित्य के अंतर्गत बहुत कम ही डयरी हैं जो मोहन राकेश की डायरी के समीप पहुँच पाती हैं। मोहन राकेश की डायरी कई मायने में, कई दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। मोहन राकेश की डायरी 1948 से 1968 तक के कालखंड को पूरी जीवंतता के साथ समेटे हुए है। इसका पाठ करते हुए ऐसा अनुभव होता है कि हम उसी युग और परिवेश में चले गए हैं जिस कालखंड की चर्चा की जा रही है। ऐसा कर पाना एक सिद्धहस्त रचनाकार द्वारा ही संभव है। क्या नहीं है इस डायरी में- सत्यता, स्पष्टता, सजीवता, संक्षिप्तता, सरलता और सहजता आदि जैसे डायरी के गुणों से परिपूर्ण है। डायरी में लेखक ने अपने मन के भावों को सत्यता के साथ प्रस्तुत किया है। राकेश ने अपनी डायरी में वही लिखा है जो शुद्ध हृदय से अनुभव किया है। डॉ कैलाश चंद्र भाटिया के अनुसार ''डायरी निजी जीवन से संबंधित होते हुए भी देश, काल और वातावरण से प्रभावित होती है। सामाजिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि में ही लेखक का व्यक्तित्व अधिक उभर कर आता है। इस आत्मीय लेखन में लेखक अपने साथ दैनिक घटनाओं, सम्पर्क में आए व्यक्तियों का उल्लेख भी करता है और उनके प्रति अपनी निजी प्रतिक्रियाएँ भी।''1

मोहन राकेश ने भी अपनी डायरी पूरी आत्मीयता से लिखी है तथा अपने जीवन और परिवेश से जुड़े व्यक्तियों और घटनाओं के प्रति यथास्थान अपनी प्रतिक्रिया दर्ज की है। वह अपने परिवेश से जुड़ी अनेक गतिविधियों का उल्लेख करते हैं तथा जीवन की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी घटना को चिंतन का विषय बना देते हैं। इस संदर्भ में डॉ. कमलेश्वर का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है कि- ''डायरियाँ, लेखक का अपना और हाथ से किया हुआ पोस्टमार्टम होती है।. .. एक लेखक कैसे तिल-तिल जीता और मरता है- अपने समय को सार्थक बनाते हुए खुद को कितना निरर्थक पाता जाता है और अपनी निरर्थकता में से कैसे वह अर्थ पैदा करता है- इसी रचनात्मक आत्मसंघर्ष को डायरियाँ उजागर करती हैं। राकेश की डायरियाँ इसी आत्मसंघर्ष के सघन एकांतिक क्षणों का लेखा-जोखा है, जो वह किसी के साथ बाँट नहीं पाया या उसने बांटना मंजूर नहीं किया।''2

वास्तव में मोहन राकेश की डायरी लेखक के आत्मसंघर्ष, जीवन के सूनेपन की त्रासदी, एकांत क्षणों का लेखा-जोखा और अपने को तलाशने की एक रचनात्मक कोशिश है। उनकी इस डायरी में नई कहानी आंदोलन के संदर्भ, पारिवारिक जीवन के उथल पुथल, प्रकृति-सौंदर्य की अनुभूति, प्रेम-प्रसंगों का विश्लेषण तथा रचनाकार का युग, परिवेश और चिंतन अभिव्यक्त होता है।

मोहन राकेश की डायरी के बारे में कहा गया यह कथन बिल्कुल सटीक है- ''इसमें कहीं प्रकृति की आकर्षक छवियाँ हैं, कहीं भावुक मन के बिंब हैं, कहीं जीवनानुभवों के सहारे व्यक्त की गयी स्पष्ट प्रतिक्रियात्मक विचारणा है, अकेलेपन के बोझ को न उठा पाने की पीड़ा है .. .'परिवेश' में दैनंदिन जीवन मे मिलने वाले मासूम और धूर्त चेहरों की धोखा-धड़ी है और है

ईमानदारी से की गयी सर्जन-क्षणों की प्रक्रिया का उल्लेख।''3 1.10.1955 की टिप्पणी में लेखक अपने पारिवारिक परिवेश की स्थिति को चित्रित करते हुए कहता है- ''मेरा जन्म अमृतसर की जिस गली में हुआ, वहाँ ताजा हवा तक तो पहुँच नहीं पाती थी। हमारा घर अंधेरा तो था ही, साथ ही वह काफी छोटा भी था क्योंकि उसकी दोनों मंजिलों पर मुझे कुल दो कमरों का होना ही याद है।''4

मोहन राकेश एक अत्यंत संवेदनशील रचनाकार हैं। उनका जीवन और लेखन एक-दूसरे का पर्याय है। उन्होंने जो जिया, उसे ही कलात्मक रूप में अभिव्यक्त भी किया। उनमें अपने समय, समाज के प्रति जो प्रतिक्रियाएँ जागीं, उसे उसी रूप में डायरी में दर्ज किया। इस संदर्भ में कमलेश्वर का कथन बिल्कुल सटीक है- ''राकेश की ज़िंदगी एक खुली किताब रही है। उसने जो कुछ लिखा और किया- वह दुनिया को मालूम है। लेकिन उसने जो कुछ जिया-यह सिर्फ उसे मालूम था।... अपनी साँसों की कहानी उसने डायरियों में दर्ज की है।'' 5 उनके अंदर के लेखक में एक आवेग था जो उन्हें लिखने को विवश करता था। यह आवेग बाहरी जगत को अपने ढंग से देखती है और उसी के अनुसार प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करती है।

मोहन राकेश की डायरी में व्यक्त परिवेश के दो छोर हैं- एक आत्मगत एवं दूसरा बाह्य। एक तरफ वे अपने मन के भीतर की व्याकुलता को व्यक्त करते हैं तो दूसरी ओर अपने आस-पास के जीवन का व्यापक और सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हैं और उसे अभिव्यक्त करते हैं। अपनी गहरी संवेदनशीलता के कारण ही वे अपने आस-पास के परिवेश से जुड़ाव महसूस करते हैं। वे वैयक्तिक एवं साहित्यिक दोनों स्तरों पर अपने समय, परिवेश और जीवन से जुड़े हुए थे। उनकी डायरी से उनके अन्त:संघर्ष, गहरी संवेदना एवं सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय प्राप्त होता है। वे लिखते हैं- ''व्यक्ति क्या है?केवल एक छोटी-सी घटना। सब व्यक्ति छोटी-छोटी घटनाएँ हैं। जीवन के सन्दर्भ में कभी-कभी एक छोटी-सी घटना भी बहुत महत्वपूर्ण हो उठती है- यह बात व्यक्ति के साथ होती है।''6

राकेश अपने वैयक्तिक अनुभवों पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं- ''अब यह डायरी कुछ दूसरा रूप ले रही है शायद। ऐसा लग रहा है कि अब जो कुछ मैं इसमें लिखूँगा वह अधिक वैयक्तिक होगा। परन्तु, जो जिस रूप में बाहर आना चाहता है, उस पर बंधन नहीं होना चाहिए।''7 ऐसा लगता है जैसे अब लेखक कुछ भी छुपाना नहीं चाहता है, वह अपने व्यक्तिगत विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति कर देना चाहता है। मध्यवर्गीय मानवीय सम्बन्धों की टूटन और स्त्री-पुरुष के अन्त: संघर्ष से जुड़े प्रश्न उनकी रचनाओं के केन्द्र में भी हैं और डायरी में भी। उनके आस-पास का परिवेश मध्यवर्गीय बोध के दबावों से जूझ रहा है और स्वयं उनका जीवन भी इससे अछूता नहीं है। उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों और अपने वैवाहिक संबंध की टूटन का जिक्र किया है- जालंधर: रात्रि- 26 1. 57- ''जिस औरत से मैं प्यार नहीं कर सकता, उसके साथ मैं

जिंदगी किस तरह काट सकता हूँ?आज वह मुझ पर 'वासना से चालित और इन्सानियत से गिरा हुआ' होने का आरोप लगाती है- क्योंकि मैंने उससे तलाक चाहा है- क्योंकि मैं अपने अभाव की पूर्ति के लिए एक ऐसे व्यक्ति का आश्रय चाहता हूँ जो मुझे खींच सकता है, बांधकर रख सकता है।''8 वे पूरी सच्चाई और ईमानदारी के साथ अपने व्यक्तिगत जीवन की बातों को लिखते हैं जो डायरी जैसी साहित्यिक विधा के लिए अनिवार्य शर्त है।

मोहन राकेश का संवेदनशील मन अपने आस-पास, परिवेश की घटनाओं से उद्वेलित होता था। वे अपने निजी अनुभवों को बड़ी बेबाकी से व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। इस विषय में स्वयं उनका कथन है- ''मेरे लिए अनुभूति का सीधा सम्बन्ध मेरे यथार्थ से है। मेरा समय और परिवेश, व्यक्ति से परिवार, परिवार से राष्ट्र और राष्ट्र से मानव-समाज तक का पूरा परिवेश है। मैं इनमें से कटकर शेष से जुड़ा नहीं रह सकता।'' 9 जालंधर, 8-2-57 की डायरी में उन्होंने कॉलेज के परिवेश एवं प्रोफेसरों के राजनीति संबंधी विचारों का बड़ी बेबाकी से उल्लेख किया है। साथ ही वे तत्कालीन पंजाब की क्षेत्रीय राजनीति की चर्चा करते हुए इसकी तुलना शतरंज के खेल से करते हैं- ''राजनीति! A game where the Truth and Beauty are just the tools and not the ends!"10 राकेश की डायरी तत्कालीन समय के राजनीतिक परिवेश और उनके राजनीति संबंधी चिंतन को भली-भाँति उभारती है।

राकेश अपने लेखन में एक व्यापक विश्व-दृष्टि से काम करने वाले लेखक हैं। वे लेखन में ईमानदारी का ज्वलंत प्रश्न उठाते हुए कहते हैं- ''लेखक का वास्तविक कमिटमेंट किसी विशेष विचारधारा से न होकर अपने से, अपने समय से और समय के जीवन से होता है।''11 राकेश की डायरी एक साहित्यकार की डायरी है अत: इसमें लेखक के रचनात्मक आत्मसंघर्ष और तत्कालीन साहित्यिक परिवेश की बार-बार चर्चा मिलती है । वे अपने युग के साहित्य और उसकी कमजोरियों के बारे में निर्भीकता के साथ चर्चा करते हैं- ''हिन्दी में इस्पाती रचनाओं का दौर नई कविता से शुरू हुआ। अब आज की कहानी भी उसी साँचे में ढल रही है।... जो चीज हमसे खोई जा रही है, वह है मिट्टी की गंध, उसकी नमी और नरमी, उसका फूहड़पन, अनघड़पन, बेतरतीबी और बेपरवाही।'' 12 वे अपने दौर की रचनाओं और रचनाशीलता को लेकर अत्यधिक सजग थे। वे इस संदर्भ में प्राय: अपने समकालीन साहित्यकारों के साथ बातचीत किया करते थे। उनकी साहित्यिक सजगता का प्रमाण यह है कि वे अपने समकालीन साहित्यकारों की रचनाओं को सूक्ष्मता से पढ़ते थे और उस पर अपनी टिप्पणियाँ भी डायरी में अंकित करते थे। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूंद और समुद्र' पढ़ने के बाद उनकी प्रतिक्रिया है- ''नागर का यह उपन्यास चरित्र चित्रण और थाट कंटेंट दोनों दृष्टियों से बहुत अच्छा है- कुछ जगह थाट कंटेंट के लिए औपन्यासिकता को रुद्ध जरूर कर दिया गया है... मगर किताब वाकई ग्रेट है।''13 उसी तरह महेन्द्र भल्ला की कहानी 'एक पति के नोट्स' को 'प्रिटेंशस और जेनुइन राइटिंग' कहते हैं। वे न सिर्फ देशी बल्कि समकालीन

विदेशी रचनाकारों और आलोचकों को भी निरंतर पढ़ते रहते थे- Elya Ehrenburg का उपन्यास 'The Thaw', Bertrand Russell की 'Conquest of Happiness' इत्यादि।

समाज को प्रभावित करने में साहित्य के अलावा नृत्य, संगीत, फिल्में आदि का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। ये सब मिलकर ही सामाजिक परिवेश को जीवंतता प्रदान करते हैं। राकेश देशी एवं विदेशी दोनों तरह की फिल्में देखना पसंद करते थे- जैसे, 'Madame Bovary', 'वाइल्ड इज दि विन्ड', 'क्लिओपात्रा', 'कंचनजंघा', 'आशा' ...इत्यादि। इसी तरह वे बोलशॉय बैले, Dying Swan नृत्य, सुब्बुलक्ष्मी और कर्नाटक के शास्त्रीय संगीत, त्यागराज का गीत, पंकज मलिक का आदि गीत का जिक्र करते हैं। इन चर्चाओं से उनकी कलात्मक अभिरूचि तो प्रदर्शित होती है, तत्कालीन सामाजिक परिवेश की भी जीवंत तस्वीर सामने आती है। पर्व-त्योहार समाज का अभिन्न अंग होता है। राकेश समाज-संवेदन रचनाकार थे। अत: वे समाज के रीति-रिवाजों के प्रति संवेदनशील थे। वे लोहड़ी की याद करते हुए अपने बचपन के दिनों में पहुँच जाते हैं- ''आज लोहड़ी है। लोग पटाखे चला रहे हैं। बच्चे चीख रहे हैं। हम बच्चे थे, तो कितनी उत्सुकता से लोहड़ी की प्रतीक्षा करते थे। ...रात को हमारे घर के आगे ही चौक में लोहड़ी जलती थी।'' 14 भारतीय समाज विविधतापूर्ण है। इसमें अच्छाईयों के साथ-साथ बुराईयाँ, कुरीतियाँ एवं विसंगतियाँ भी विद्यमान है। राकेश की डायरी में इन सब पर भी चर्चा है। एक ओर सवर्णों द्वारा दलितों के शोषण की प्रक्रिया का वर्णन है तो दूसरी ओर समाज और नौकरशाही में व्याप्त भ्रष्टाचार का चित्रण है कि महकमे के अफसर वर्करों को साथ मिलाकर रूपया-पैसा हड़प जाते हैं। इसी प्रकार गाँव की जमींदारी प्रथा से जुड़े किस्से उसकी क्रूरता की पोल खोल देते हैं- ''दुष्यन्त ने अपने कुछ जमींदारी के अनुभव भी सुनाए कि किस तरह उसने कई बार किसानों के घर जलवाए हैं और उनके वहाँ रिवाल्वर रखकर बरामद कराए और उन्हें जेल कराई है।''15

इसी प्रकार लेखक समाज में व्याप्त विसंगतियों पर प्रहार करते हुए किस्से सुनाता है- ''लड़की की शादी हुई- पर गौने से पहले मियाँ-बीबी में शारीरिक सम्बन्ध हो गया.. लड़की के गर्भ रह गया- लड़का पहले मान भी गया- फिर उसने इनकार कर दिया कि यह लड़की बदमाश है, मैं इसे घर में नहीं रखूँगा। ... और दूसरी शादी के बारे में उनकी कम्युनिटी वालों का कहना है कि वे लड़की को गोली मार देंगे- दूसरी जगह नहीं जाने देंगे।''16 इसी तरह से अन्य कई किस्से लेखक के अपने परिवेश से गहरी संपृक्ति का परिचय देते हैं।

राकेश ने अपने जीवन की अनेक घटनाओं का वर्णन अपनी डायरी में किया है। किसी भी व्यक्ति के जीवन में माँ की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण होती है। उनके जीवन को उनकी माँ के व्यक्तित्व ने गहरे रूप में प्रभावित किया है। माँ के स्वभाव, त्याग, कर्मठता, करूणा, उदारता आदि गुणों की राकेश ने बार-बार चर्चा की है। राकेश और उनके परिवार को कई बार आर्थिक अभाव का भी सामना करना पड़ा। आर्थिक तंगी के दौर का भी माँ ने अविचल धैर्य के साथ सामना किया।

डायरी में एक लेखक और उसके परिवार से जुड़ा आर्थिक परिवेश अपने वास्तविक रूप मे हमारे सामने आता है। राकेश ने अपने दो-दो विवाह-विच्छेद की भी चर्चा की है। इस संदर्भ में उनका विचार था कि ''रजिस्ट्री के दफ्तर में हस्ताक्षर हुए थे, मात्र इतने के लिए जीवन भर की विडंबना को ढोने का कोई अर्थ नहीं है।'' 17 इसके साथ-साथ उन्होंने अपनी विभिन्न प्रेमिकाओं और उनके साथ आत्मीय संबंधों के भी विभिन्न चित्र बड़ी बेबाकी से चित्रित किए हैं। इसी तरह उनके जीवन और सम्पर्क में अनेक मित्र एवं समकालीन साहित्यकार आए जिनके बारे में उन्होंने खुलकर लिखा है। इसमें कमलेश्वर, ज्ञान, उपेन्द्रनाथ अश्क, हरिकृष्ण प्रेमी, नरेन्द्र, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, श्रीकान्त वर्मा, रवीन्द्र कालिया, भीष्म साहनी आदि प्रमुख हैं।

मोहन राकेश अपने आस-पास के वातावरण एवं प्राकृतिक परिवेश का निरीक्षण बड़ी सूक्ष्मता एवं कलात्मकता के साथ करते हैं। उन्होंने डायरी में प्रकृति का चित्रण काव्यात्मकता के साथ किया है। वे प्रकृति की सुन्दरता, विराटता, सजीवता एवं सरसता को डूबकर महसूस करते हैं। ''जब बिजली चमकती है तो आकाश की ओर देखता हूँ। क्षण भर के लिए दूर-दूर तक का विस्तार आलोकित हो उठता है जिसमें घने सफेद बादलों की कुछ आकृतियाँ परिलक्षित हो उठती हैं। यह विस्तार की रेखाओं का उभरना हृदय को पुलकित भी करता है। लगता है यह विस्तार ही सत्य है, इससे नीचे किन्हीं भी सीमाओं में बद्ध होकर रहना छोटापन है, उन सीमाओं में सोचना हल्कापन है। इतने बड़े विस्तार में व्यक्ति की नगण्य सत्ता ही क्या है?'' 18 उन्होंने डलहौजी के प्राकृतिक परिवेश, पहाड़ी शृंखलाओं, नदियों-चम्बी, व्यास एवं रावी का चित्रण वर्णनात्मक ढंग से विस्तार में किया है। वे प्रकृति की रहस्यमयता, विराटता, विशालता के सामने मानव को नगण्य, तुच्छ और असहाय महसूस करते हैं।

मोहन राकेश का मानना है कि मनुष्य जिस परिवेश में रहता है, वह मनुष्य को आंतरिक एवं बाहरी दोनों रूप में प्रभावित करता है। परिवेश में परिवर्तन के साथ-साथ व्यक्ति में भी परिवर्तन होता है- ''जिस वातावरण में रहते हैं, वह हमारे रहन-सहन के अतिरिक्त हमारे सोचने और अनुभव करने की प्रक्रिया को प्रभावित करता है। Village mentality, town mentality, city mentality आदि का यही अर्थ तो है कि हम जहाँ रहते हैं, वहाँ के जनसमुदाय की परम्पराओं और विश्वासों के Code को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्वीकार कर लेते हैं।''19

मोहन राकेश की डायरी उनके जीवन के समानांतर चलती हुई अपने युग और परिवेश को सफलतापूर्वक प्रतिबिम्बित करती है। इसमें राकेश एक आत्मसजग और परिवेशसजग रचनाकार के रूप में सामने आते हैं। उन्होंने अपने आत्मसंघर्ष और जीवन-परिवेश से जुड़ी बातों को ईमानदारी और सहजता से रखा है। इसके अलावे बाहरी परिवेश से जुड़े समसामयिक विषयों यथा- राजनीतिक, साहित्य, सामाजिकता, सभ्यता-संस्कृति, भ्रष्टाचार, अनैतिकता इत्यादि पर महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ भी की हैं। इस तरह से उनकी डायरी जीवन-दर्शन के विविध पक्षों से जुड़ी हुई अपने

युग और परिवेश का जीवंत दस्तावेज प्रमाणित होती है।

**संदर्भ**


1 डॉ. कैलाश चन्द्र भाटिया, 'साहित्य में गद्य की नई विविध विधाएँ', पृष्ठ-26, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1996

2 संपा. अनीता राकेश, 'मोहन राकेश की डायरी' (डायरियाँ एक लेखक का अपना रेगिस्तान-कमलेश्वर) पृष्ठ-11, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण-1985

3 डॉ. सुषमा अग्रवाल, 'मोहन राकेश: व्यक्तित्व और कृतित्व', पृष्ठ 418, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, संस्करण-1986

4 संपा. अनीता राकेश, 'मोहन राकेश की डायरी' (अपनी डायरी के बारे में स्वयं-मोहन राकेश) पृष्ठ-6, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण-1985

5 संपा. अनीता राकेश, 'मोहन राकेश की डायरी' (डायरियाँ एक लेखक का अपना रेगिस्तान-कमलेश्वर) पृष्ठ-11, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण-1985

6 संपा. अनीता राकेश, 'मोहन राकेश की डायरी', पृष्ठ 37, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण-1985

7 वही, पृष्ठ 25

8 वही, पृष्ठ 35

9 मोहन राकेश, 'परिवेश', पृष्ठ 203, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1967

10 संपा. अनीता राकेश, 'मोहन राकेश की डायरी', पृष्ठ 112, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण-1985

11 मोहन राकेश, 'बलकम खुद', पृष्ठ 112, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-1974

12 संपा. अनीता राकेश, 'मोहन राकेश की डायरी', पृष्ठ-249, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण-1985

13 वही, पृष्ठ 37

14 वही, पृष्ठ 153

15 वही, पृष्ठ 45

16 वही, पृष्ठ 39

17 वही, पृष्ठ 146

18 वही, पृष्ठ 109, 110

19 वही, पृष्ठ 181, 182

**पत्राचार का पता** : ए–250, नेहरू विहार, नई दिल्ली–110054

मो. न. 8447523182, ई.मेल– jyotsnadu23@gmail.com

शोधर्थी (पीएच.डी.) हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

# 'हिन्दी गीत' की विकास-यात्रा

अजीत कुमार

**रीतिकाल में शुद्ध गीतिकाव्य की दृष्टि से जो थोड़े कवि- कवयित्री हुए उनमें वृन्दावन, घनानंद, सहजोबाई, दयाबाई, नागरीदास का नाम लिया जा सकता है। घनानंद, बोधा, रसखान, आलम आदि के नाम प्रगीत के अंतर्गत माना जा सकता है क्योंकि इनमें स्वानुभूति, कोमल भावों का प्रकाशन तथा संगीतात्मक मधुर शब्दावली के दर्शन होते हैं। रीतिकाल ने भक्ति में लीन संगीत के अविरल प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया। इसके बाद संगीत को मुक्ति आधुनिक काल में मिली।**

गीतिकाव्य संसार की प्राचीनतम विधाओं में से एक है। हिन्दी गीत काव्य अपनी परम्परा और विकास के लिए संस्कृत साहित्य का ऋणी है। सामवेद संगीतात्मक गीतों का संग्रह है। वेदों के गायकों ने भी वेदों को 'गीत' कहा है। सामान्यतः कविता और गीत-काव्य में मुख्य विभेदक रेखा 'गेयता' ही स्थापित करती है। गेयता का सामान्य अर्थ-गाया जाने का गुण है। अर्थात जिसे ग्या जा सके वह गेय है, गीत है। गेय साहित्यिक विधाओं में काव्य और संगीत का अद्‌भुत समाहार हो जाता है। सूर और मीरा के पद अपनी भावनुकूल राग-योजना में किसी सधे हुए कण्ठ में आकर ही अपना वास्तविक प्रभाव जनमानस पर छोड़ पाते हैं। उत्तम गीति कविता संगीतमय होती है। भले ही वह स्वर लय के नियमों से बँधी हुई न हो लेकिन संगीत उसका अनिवार्य गुण है। इस प्रकार अगर गीत का सामान्य अर्थ 'गेय काव्य' से लिया जाए तो इस रूप में यह विधा उतनी ही प्राचीन है, जितना कि कविता का इतिहास।

हिन्दी में सर्वप्रथम विद्यापति की पदावलियों में गीत की परम्परा देखी जा

सकती है। विद्यापति के पदों में जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' के पदों से पदलालित्य, सरसता, रसोद्रेक तथा शुद्ध रागात्मक आवेश की संगीतात्मक अभिव्यक्ति मिलती है। विद्यापति के पद भाव-सौंदर्य, भाव-स्मृति, संगीतात्मकता और वेदना का अनूठा संगम है-

''नंदक-नंदन कदम्बक तरुवर।

धिरे-धिरे मुरली बजाब।।

समय संकेत निकेतन बइसल।

बेरि बेरि बोल पठाव।।''1

विद्यापति के पदों से हिन्दी में गीति-काव्य की अभिनव परंपरा का सूत्रपात होता है जिसका आगे चलकर भक्तिकाल में सूर के पदों में विस्तार होता है। भक्तिकाल के प्रतिनिधि कवियों कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, जायसी आदि के पदों में प्रेमानुभूति की तीव्रता और विरह वेदना का व्यापक प्रसार गीति-पदों में दिखाई देता है। भक्तिकालीन संत-कवियों में पद रचना करते समय अपने पदों को विभिन्न राग-रागिनियों तथा कभी-कभी शास्त्रीय तालों में बाँधकर रचने की प्रवृति पायी जाती है। कबीर के एक गेय पद द्रष्टव्य हैं-

''साईं बिन दरद करेजे होय।

दिन नहीं चैन रात नहिं निंदिया कासे कहूँ, दुःख होय।

आधी रतिया पिछले पहरवा,

साईं बिना तरस रही सोच।

कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, साईं मिले सुख होय।।''2

इसी प्रकार विनय के पदों में तुलसीदास के हृदय की करुणा शत-शत स्रोतो में फूट पड़ी है-

''केसव! कहि न जाइ का कहिये।

देखत तव रचना विचित्र हरि,

समुझिमनहिं मन रहिये।।''3

सूर और मीरा भक्ति युग के प्रसिद्ध गीतकार हैं। इन्होंने कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन की घटनाओं को लेकर पद रचे लेकिन कथानक निर्वाह के बंधन से पूर्णतः मुक्त रहे। सूर के गेय पदों में माधुर्य और संगीतात्मकता की प्रचुरता है तो मीरा के पदो में विरह, माधुर्य एवं विदग्धता की। भ्रमरगीत में अनुभूति की तीव्रता के साथ करुणा के अतिरेक को देखा जा सकता है-

''निसि दिन बरसत नैन हमारे।

सदा रहति पावस रितु हम पर,

जब तैं स्याम सिधारे।।''4

''जहाँ सूर आदि गोपियों से तादात्म्य कर उनके साथ रोए और गाए हैं वहाँ मीरा ने गिरधर गोपाल को स्वयं ही पति मानकर उनके प्रति आत्म निवेदन किया है। उसमें निजीपन की पराकाष्ठा आ गई है, उनकी तन्मयता और उल्लास अतुलनीय है।''5

''हेरि मैं तो दरद दिवानी मोरा दरद न जाणै कोई।

घायल की गति घायल जाणै जो कोई घायल होय।''6

शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से देखा जाए तो मीरा के पद अनेक राग-रागनियों में बँधे हुए हैं, साथ ही लोक धुनों का स्वर भी सुनाई पड़ता है। निराला के शब्दों में - ''संत पदावली से एक बहुत बड़ा उपकार जनता का हुआ जहाँ संगीत की कला दरबार में तरह-तरह की उखाड़-पखाड़ो से पीड़ित हो रही थी, भावपूर्ण सीधा स्वर लुप्त हो रहा था, वहाँ भक्त साधक और साधिकाओं के रचे गीत और स्वर यथार्थ संगीत की रक्षा कर रहे थे और जनता पूरे आग्रह से यथासाध्य इनका अनुभव करती थी।''7

रीतिकाल में शुद्ध गीतिकाव्य की दृष्टि से जो थोड़े कवि- कवयित्री हुए उनमें वृन्दावन, घनानंद, सहजोबाई, दयाबाई, नागरीदास का नाम लिया जा सकता है। घनानंद, बोधा, रसखान, आलम आदि के नाम प्रगीत के अंतर्गत माना जा सकता है क्योंकि इनमें स्वानुभूति, कोमल भावों का प्रकाशन तथा संगीतात्मक मधुर शब्दावली के दर्शन होते हैं। रीतिकाल ने भक्ति में लीन संगीत के अविरल प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया। इसके बाद संगीत को मुक्ति आधुनिक काल में मिली। भारतेन्दु युग में पुनः गीत-काव्य का उत्कर्ष प्रारंभ हुआ। भारतेन्दु, श्रीधर पाठक, प्रतापनारायण मिश्र, बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि इस युग के प्रमुख गीतकार हैं। भारतेन्दु ने शास्त्रीय रागों के साथ होली, बसंत आदि लोक रागनियों का भी समावेश किया है-

''होली नाटक खेलूँ मैं वन में।

पिया बिनु होरी लगी मेरे मन में।।''8

भारतेन्दु और 'मंडल' के कवियों ने प्रेम, माधुर्य के साथ-साथ राष्ट्र प्रेम से संबंधित गीतों की भी रचना की। आगे चलकर द्विवेदी युग में खड़ी-बोली हिन्दी में राष्ट्रभक्ति की भावना से ओत-प्रोत गीतों का सृजन हुआ। द्विवेदी युग में श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, गया प्रसाद शुक्ल 'स्नेही', सियाराम शरण गुप्त आदि ने राष्ट्रीय भावधारा का गीत रचा। श्रीधर पाठक के प्रसिद्ध 'भारत गीत' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है-

''शुचिभाल पै हिमाचल चरण पै सिंधु-अंचल,

उस पर विशाल सरिता, सित-हीर-हार-चंचल,

मणि-बद्ध-नील-नग का विस्तीर्ण तट अचंचल

सारा सदृश वैभव मन को लुभा रहा है।''9

गुप्त जी के कुछ गीत हिन्दी साहित्य की अक्षय निधि हैं जैसे-'यशोधरा' के 'सखि वे मुझसे कह के जाते', 'चाहे तुम सम्बंध न मानो', 'रे मन आज परीक्षा तेरी', आदि। 'साकेत' के नवम सर्ग का एक गीत द्रष्टव्य है-

''दोनों ओर प्रेम पलता है।

सखि पतंग भी जलता है हाँ।

दीपक भी जलता है।''10

इसी प्रकार 'यशोधरा' में भी गुप्त जी के सर्वश्रेष्ठ गीत रचनाएँ उपलब्ध है-

''आओ हे वनवासी

जल में शतदल तुल्य सरसते।

तुम घर रहते हम न तरसते

देखो दो-दो मेघ बरसते, मैं प्यासी की प्यासी।''11

द्विवेदी काल के बाद छायावाद युग में गीतों का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। छायावादी गीतों को स्पष्ट करते हुए बाबू गुलाबराय कहते हैं- ''गीतिकाव्य के अत्याधुनिक युग के गीतों में 'लिरिक' के सब गुण मिलते हैं। ये कविताएँ आकार में छोटी हैं और एक हृदयोच्छवास के रूप में कोमलता एवं मधुरता से मंडित, निजीपन से परिपूर्ण तथा नवीन लाक्षणिकता, सौंदर्य-सुषमा और नवीन भाषाओं से ओत-प्रोत हमारे सामने आती है।''12

छायावाद के कवि चतुष्ट्य-जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रा नंदन पंत और महादेवी वर्मा ने अपने गीतों में श्रृंगार, राष्ट्रीयता, दर्शन, रहस्य, भक्ति, प्रकृति-प्रेम, आत्मनिवेदन, विरह वेदना, लोक-संस्कृति, प्रगीत आदि विविध भावों के गीत-काव्यों की रचना की। प्रसाद ने अपने नाटकों में देश-प्रेम और प्रकृति-प्रेम से संबद्ध गीतों की मनोहारी छटा प्रस्तुत किया है-

''अरूण यह मधुमय देश हमारा

जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।''13

'चन्द्रगुप्त' नाटक में देश के सुप्त पौरूष को जगाने के लिए प्रसाद ने एक ओजपूर्ण उत्साहवर्द्धक तथा गरिमा की अनुभूति कराने वाली गीत की रचना की-

''हिमाद्रि तुंग-श्रृंग से

प्रबुद्ध शुद्ध भारती-

स्वयंप्रभा समुज्ज्वला

स्वतंत्रता पुकारती-

अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो

प्रशस्त- पुण्य पन्थ है- बढ़े चलो बढ़े चलो।''14

निराला के गीतों का प्रारम्भिक दौर 'गीतिका' के 'प्रिय यामिनी जागी' जैसे श्रृंगार गीतो से हुआ। 'परिमल', 'गीतिका', 'अर्चना', 'बेला', 'अणिमा' आदि संग्रहों में निराला की गीति-काव्यपरक रचनाओं का संकलन है। ''निराला जी हिन्दी कविता की नवीन धारा के कवि हैं और साथ ही भारती मंदिर के गायक भी हैं, उनमें केवल पिक की पंचम पुकार ही नहीं, कनेरी की सी एक मीठी तान नहीं अपितु उनकी गीतिका में सब स्वरों का समावेश है।''15

गीतिका मानवीय संवेदनाओं की दृष्टि से अत्यंत संवेदनशील है। इनमें प्रेम की वाग्विदग्धता। व स्वानुभूति की विवृति के तत्व मिलते हैं तो प्रकृति का अनूठा प्रयोग भी मिलता है-

''सखि बसंत आया

भरा हर्ष वन के मन

नवोत्कर्ष छाया किसलय- वसना नववय लतिका

मिली मधुर प्रिय डर तरु पतिका

मधुप वृन्द बन्दी

पिक-स्वर नभ सरसाया।''16

सुमित्रानंदन पंत के प्रकृति के अद्‌भुत चितेरे हैं। उनके गीतों में प्रकृति के विविध रूपों का दर्शन होता है। पंत की प्रमुख गीत प्रधान रचनाएँ हैं- 'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना', 'युगांत', 'वीणा', 'युगवाणी', 'चिदम्बरा', 'ग्राम्या' इत्यादि। पंत के गीतों की प्रमुख विशेषता है- प्रकृति, प्रेम, दर्शन व श्रृंगार का चित्रण। 'स्वर्णधूलि' में पंत विश्व शांति तथा विश्व मानवता की स्थापना के लिए भारत की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं-

''जननी जन्मभूमि प्रिय अपनी

जो स्वर्गादपि चिर गरीयसी

जिसका गौरव भाल हिमालय

स्वर्णधरा हँसती चिर श्यामल

ज्योति-ग्रथित गंगा-यमुना जल

वह जन-जन के हृदय में बसी''17

महादेवी वर्मा छायावाद की प्रमुख गीतकार हैं। इनके गीति-काव्यों में 'रश्मि', 'नीहार',

'नीरजा', 'सांध्यगीत', 'दीपशिखा' आदि प्रमुख हैं। इनके गीतों का मूल स्वर वेदना है, इसमें दर्शन और रहस्य का भी समावेश है। इनके गीतों में मधुर अवसादमयी एकांतिका की छाया सर्वत्र विद्यमान है-

''मधुर-मधुर मेरे दीपक जल

युग-युग प्रतियुग प्रतिक्षण प्रतिपल

प्रियतम का पथ आलोकित कर।''18

छायावादी कवियों के गीतों में जीवन की विविध दशाएँ आंशिक रूप से ही उद्‌भासित हुई हैं, हृदय के राग-पक्ष पर ही सभी का अधिक जोर रहा है। किंतु भाषा, संगीत, लय, ताल, छंद आदि की दृष्टि से इस युग की गीत सृष्टि हिन्दी गीत-साहित्य की अमूल्य धरोहर है।

छायावादोत्तर काल में गीतों की दो समानांतर धाराएँ प्रवाहित हो रही थी एक धारा में प्रेम, प्रकृति, भक्ति, रहस्य आदि के गीत गाये जा रहे थे तो दूसरी धारा में देश-प्रेम और राष्ट्रीयता के। प्रथम धारा के कवि रामकुमार वर्मा, जानकी वल्लभ शास्त्री, हृदयेश, विद्यापती कोकिल थे तो दूसरी धारा राष्ट्रीय गीत धारा के प्रमुख कवि माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामधारी सिंह 'दिनकर' तथा सुभद्रा कुमारी चौहान आदि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। माखनलाल चतुर्वेदी के राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत गीत तो सम्पूर्ण राष्ट्र में गुनगुनाया जाता है-

''चाह नही, मैं सुरबाला के

गहनों में गूँथा जाऊँ

चाह नहीं प्रेमी माला में

बिंध प्यारी को ललचाऊँ।''19

राष्ट्रीय काव्यधारा के प्रमुख गीतकार बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के बारे में डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं- ''स्वतंत्रता प्राप्ति के कवि सेनानी बालकृष्ण शर्मा नवीन राष्ट्रीयता के बलि वेदी पर उत्सर्ग हो जाने वाली पावन अग्नि को अपने अंतर में संजोए साहित्य जगत के कई पहलुओं वाले हीरा है।''20

छायावादी चेतना के समानांतर या उससे ही एक दिशा में आगे काव्य चेतना का दूसरा पक्ष प्रणय, मस्ती और मादकता की जमीन पर विकसित व्यक्तिवादी चेतना का काव्य प्रवाहित हो रहा था। छायावादी कविता में जो प्रेम अर्द्धव्यक्त रह गया था उसे ही हरिवंश राय बच्चन, रामेश्वर शुक्ल अंचल, नरेन्द्र शर्मा आदि कवि खुलकर व्यक्त कर रहे थे। 'बच्चन' का 'मधुकाव्य' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। 'मधुबाला' की मस्ती और खुमारी भरी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

''जिसमें झलक रही मधुशाला

जिसमें प्रतिबिंबित मधुबाला

कौन सकेगा पी उस धुन को

कितनी ही हो अन्तर्ज्वाला।।''21

नरेन्द्र शर्मा मूलतः प्रकृति- प्रेम के कवि हैं। उनकी प्रमुख गीत रचनाओं- 'प्रवासी के गीत', 'प्रभात फेरी' एवं 'पलाशवन' में उनके व्यक्तिगत सुख, दुःख, राग-द्वेष की बातें सीधे न आकर आलोकित एवं प्रतीकों में आयी है। एक गीत द्रष्टव्य है-

कितनी रातों को मन मेरा,

चाहा कर दूँ चीख सवेरा।

पर मैंने अपनी पीड़ा को चुपचाप

अश्रु कणों में घोला।।

हिन्दी गीत-काव्य परम्परा के विकास में प्रगतिवादी कवियों का भी अमूल्य योगदान रहा है। प्रगतिवाद के प्रतिनिधि गीतकारों में नागर्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, शिवमंगल सिंह 'सुमन', मुक्तिबोध आदि का प्रमुख नाम हैं। 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' में केदारनाथ काव्यकारों एवं लेखकों को सत्ता की चाटुकारिता से सावधान करते हुए लिखते हैं-

''राजशाही गुम्बद की छाया में लेखक को पालो नहीं,

लेखक को हुक्म या हिदायत से बाँधो नहीं।''22

प्रगतिवादी गीतों का प्रमुख स्वर किसान, मजदूर के प्रति सहानुभूति और पूँजीपतियों और अन्य शोषक वर्ग के प्रति विद्रोह का है। प्रयोगवादी कवियों ने जिसने गीतपरक काव्य की रचना की उनमें अज्ञेय, धर्मवीर भारती, गिरिजा कुमार माथुर आदि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। अज्ञेय प्रयोगवाद के प्रवर्तक कवि हैं। इनकी 'इत्यलम्', भग्नदूत', 'असाध्य वीणा' 'इन्द्रधनुष रौंदे हुए ये' आदि रचनाओं में गीतों के दर्शन होते हैं। 'इत्यमन' का एकगीत द्रष्टव्य है-

''माँझी, मत हो अधिक अधीर!

साँझ हुई, सब ओर निशा ने फैलाया,

निज चीर,

नभ से अंजन बरस रहा है नहीं दीखता तीर

किंतु सुनो! मुग्धा वधुओं के चरणों का गम्भीर।।''23

धर्मवीर भारती के गीति तत्व पर आधारित रचनाएँ हैं- 'ठंडा लोहा' और 'सात गीत वर्ष'। इनके गीतों में प्रेम, सौंदर्य, रस, रंग के साथ युगबोध का यथार्थ चित्रण भी मिलता है।

आजादी के बाद हिन्दी गीत काव्यधारा व्यक्तिवादी रागात्मक उच्छवास से निकलकर लोक धुनों का अवलम्ब लेकर नई चेतना में प्रवाहमान हुई। इस नवीन गीतात्मक चेतना को अनेक

नामों से अभिहित किया गया- 'आज का गीत', 'नया गीत', 'आधुनिक गीत' आदि। अंत में राजेन्द्र प्रसाद सिंह द्वारा इस गीत विधा को एक नया शीर्षक मिला- 'नवगीत'। नवगीतकारों में गोपालदास 'नीरज', शंभुनाथ सिंह, बलवीर सिंह रंग, वीरेन्द्र मिश्र, रामदरश मिश्र, रवीन्द्र भ्रमर माहेश्वर तिवारी, उद्भ्रांत, श्यामसुन्दर दुबे आदि प्रमुख नाम हैं। 1964 में नवगीत का समवेत संकलन ओम प्रभाकर और भागीरथ भार्गव के संपादकत्व में अलवर से प्रकाशित हुआ। नवगीत में संकलित गीतो में महानगरीय यांत्रिकता, प्रेम की पीर, प्रगतिशील तत्वों का समावेशन, नवोन्मेषशीलता तथा संगीतात्मकता की विशेषता मिलती है।

नवगीत लेखन परम्परा से ही गीतकार किसी प्रचलित साहित्य आंदोलन या 'वाद' विशेष से मुक्त होकर अपनी नैसर्गिक भावभूमि पर विचरण करने लगे थे। आज के गीतकारों की सोच विविध आयामी है। आज के गीत ने लोकमानस और लोक चेतना को झकझोर कर मनुष्य की आंतरिक वेदना को वाणी दी है। गोपाल दास 'नीरज' का एक गीत द्रष्टव्य है-

''तुम कफन चुराकर बैठ गए जा महलो में
देखो गाँधी की अर्थी नंगी जाती है
इस रामराज के सुघर रेशमी दामन में
देखो सीता की लाज उतारी जाती है।''24

**संदर्भ**


1 'विद्यापति पदावली', संपा.- कुमुद विद्यालंकार, जयवंशी झा, पृष्ठ 133, रीगल बुक डिपो, दिल्ली, संस्करण-1972

2 'कबीर', हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 266, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण, 1980

3 'विनयपत्रिका', तुलसीदास, संपा.- वियोगी हरि, पृष्ठ 185, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, 1981

4 'सूर-पंचशतक', संपा. डॉ. नगेन्द्र, डॉ. मनमोहन गौतम, पृष्ठ 300, सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1979

5 'काव्य के रूप : सिद्धांत और अध्ययन', बाबू गुलाब राय, पृष्ठ 118, प्रतिभा प्रकाशन मंदिर, दिल्ली संस्करण, 1947

6 'मीरा पदावली', पृष्ठ 128, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-1970

7 'गीतिका', निराला, भूमिका से उद्धृत, भारती भंडार, इलाहाबाद, संस्करण-1948

8 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', संपा. ब्रजरत्न दास, भाग-2, पृष्ठ 384, काशी नागरी प्रचारिणी

सभा, 1953

9 अर्वतिका : काव्यालोचनांक, पृष्ठ 11, वर्ष 2, अंक 1

10 'साकेत', मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ 117, साहित्य सदन, झाँसी, प्रथम संस्करण

11 'यशोधरा', मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ 119, साहित्य सदन, झाँसी, प्रथम संस्करण

12 'काव्य के रूप : सिद्धांत और अध्ययन', बाबू गुलाब राय, पृष्ठ 122, प्रतिभा प्रकाशन मंदिर, दिल्ली, संस्करण-1947

13 'चन्द्रगुप्त', जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ 79, नार्थ इण्डिया पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009

14 वही, पृष्ठ 159

15 'गीतिका', निराला, भूमिका से उद्धृत, भारती भंडार, इलाहाबाद, संस्करण-1948

16 वही, पृष्ठ 10

17 'स्वर्णधूलि', सुमित्रानंदन पंत, पृष्ठ 92, भारती भंडार लीडर प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण

18 'नीरजा' महादेवी वर्मा, पृष्ठ 29, इंडियन प्रेस लि., प्रयाग, 1951

19 'माखन लाल चतुर्वेदी रचनावली', भाग 6, संपा.- श्रीकान्त जोशी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1995

20 'हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास', हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 219, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013

21 'मेरी श्रेष्ठ कविताएँ', हरिवंशराय बच्चन, पृष्ठ 55, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण-1984

22 'फूल नहीं रंग बोलते हैं', केदारनाथ अग्रवाल, पृष्ठ 80, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1965

23 'इत्यलम्', अज्ञेय, प्रतीक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1965

24 'प्राण गीत', गोपाल दास 'नीरज', पृष्ठ 74, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, संस्करण-1985

✧ ✧ ✧

**स्थायी पता** – ग्राम + पो0 – छिहत्तर, थाना– मनेर, जिला– पटना, बिहार–801108
Mob. No. - 09931701249, E-mail- a.ajeet76@gmail.com

शोधर्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

# 'राग दरबारी' की भाषा में लैंगिक पक्षपात

आशुतोष शुक्ल

**नारी विमर्श को समाजवादी दृष्टि, ऐतिहासिक दृष्टि या मनोविश्लेषणवादी दृष्टि से परखा गया है किन्तु भाषा को केन्द्र में रखकर विचार करने से लैंगिक पक्षपात की पूरी परम्परा का विश्लेषण हो सकेगा। नारी की पीड़ा, उसकी कठिनाइयों एवं उसके जीवन को भाषा के जरिये विश्लेषित कर समाधानों की ओर बढ़ा जा सकता है।**

'राग दरबारी' व्यंग्य की आधारभूमि पर विकसित होने वाला ऐसा रोचक उपन्यास है जिसने समाज की सच्चाई को बड़े बेबाक ढंग से उठाया है। इस उपन्यास में स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों का बड़ी सूक्ष्मता से विश्लेषण किया गया है। लैंगिक पक्षपात को इस उपन्यास के केन्द्र के रूप में देखा जा सकता है। यह लैंगिक पक्षपात स्त्री और पुरुष के सत्ता समीकरण को ही प्रभावित नहीं करता बल्कि समाज में बोली जाने वाली भाषा को भी नियंत्रित करता है। इस उपन्यास की भाषा हमें यह बतलाती है कि समाज में स्त्री की दशा इतनी निम्न है कि उसकी अनुगूँज भाषा की व्याकरणिक संरचना तक में सुनाई देती है।

किसी की भी भाषा उसकी आशा, आकांक्षाओं का पिटारा होती है। स्त्री की भाषा लैंगिक पक्षपात का सबसे जीवन्त एवं प्रामाणिक दस्तावेज है। शब्दों से लेकर उनके अर्थ, अभिप्राय, भाव-भंगिमाओं के साथ-साथ बलाघात, अनुतान तक पूर्वनिर्धारित एवं पुरुषनिर्मित होते हैं।

आकर्षण, भाषा का अनिवार्य गुण हैं। वक्ता और श्रोता इसके माध्यम से ही

एक-दूसरे से जुड़ते हैं एवं भावनाओं व विचारों का आदान प्रदान करते हैं। इस विचार-विनिमय की प्रक्रिया में व्यक्ति अपने मानस-जगत को मथने वाले समीकरणों को किसी न किसी भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। यही कारण है कि व्यक्ति की सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आदि सभी प्रकार के पहचानों को भाषा अभिव्यक्त करती है। यही भाषा व्यक्ति और समाज को समझने का सबसे विश्वसनीय दस्तावेज भी साबित होती हैं।

भाषा सत्ता की संरचना को प्रकट करती है। भाषा के माध्यम से ही हम समाज के लोक-गीत, संवाद एवं लोकोक्ति-मुहावरों आदि के विश्लेषण से पुरुष-वर्चस्व की संभावनाओं एवं संकल्पों को जान पाते हैं। गालियों की भाषा विश्लेषित करके समाज के सत्ता समीकरण को समझा जा सकता है।1

नारी विमर्श को समाजवादी दृष्टि, ऐतिहासिक दृष्टि या मनोविश्लेषणवादी दृष्टि से परखा गया है किन्तु भाषा को केन्द्र में रखकर विचार करने से लैंगिक पक्षपात की पूरी परम्परा का विश्लेषण हो सकेगा। नारी की पीड़ा, उसकी कठिनाइयों एवं उसके जीवन को भाषा के जरिये विश्लेषित कर समाधानों की ओर बढ़ा जा सकता है।

समाज में जो कुछ भी सामने दिखलायी पड़ता है अथवा जो कुछ भी पीछे छिपा रहता है, उस सब की आवाज भाषा में साफ सुनाई देती है। कोई भी भाषा उस समाज के राग-द्वेष, तीज-त्यौहार, आचार-विचार, संकल्प और साधना को जीवन्त रूप में संचरणशील रखती है। इसीलिये समाज को समझने के लिये उसकी भाषा का विश्लेषण अपरिहार्य हो जाता है।

एक ओर तो भाषा में लोगों की आशा, आकांक्षाएँ अभिव्यक्त होती है तो दूसरी ओर अधूरे सपने, घुटती जिन्दगी, टूटते संकल्प भी दिखलाई देते हैं। जिस तरह पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री हाशिए पर रही है, उसी प्रकार भाषा में भी यह भेदभाव का शिकार हुई है। यह भेदभाव कई स्तरों पर दिखलाई देता है।2

भाषा के उच्चारण में बोलने के अंदाज को समाज में बड़ी गम्भीरता से लिया जाता है। यही अंदाज स्त्री और पुरुष को अलग-अलग खाँचों में बाँट देता है। स्त्री से समाज सहजता, विनम्रता, मृदुता और शालीनता के साथ-साथ मिठासपन, मंदता एवं सरलता की भी अपेक्षा करता है। स्त्रियों को ऊँची आवाज में बात नहीं करनी चाहिये, उन्हें धीरे-धीरे बोलना चाहिये। बोलते समय उन्हें सामने नहीं बल्कि नीचे देखना चाहिये। आँख मिलाकर तो बात नहीं ही करनी चाहिये। बहुत ज्यादा नहीं बोलना चाहिये। जितना पूछा जाये उतना ही जवाब देना चाहिये। उनकी भाषा से निरीहता का भाव झलकना चाहिये। जहाँ तक हो सके भाव-भंगिमाओं से ही उत्तर देना चाहिये, मसलन हाँ, नहीं के लिये सिर के हिलाने-डुलाने या आँखों को ऊपर नीचे करके या हाथ हिलाकर, कभी-कभी तो पैर के अंगूठे से लिखकर ही अपना भाव या विचार व्यक्त करना चाहिये। बोलने की ये सारी सरहदें उसे चारों तरफ से घेरे रहती हैं। उसे भाषा के भाव भंगिमा नामक पिजड़े में कैद कर दिया

जाता है।

सहवास की समारोह प्रक्रिया से गुजरते वक्त उसके गूँगेपन को चारित्रिक शुचिता की परीक्षा में सर्वोच्च अंक प्रदान किये जाते हैं। इस महामिलन की वेला में यदि कोई चीज पूरी तरह अनुपस्थित रहती है तो वह है- स्त्री भाषा। नारी इन उल्लास और उमंग के क्षणों को शब्दों से अभिव्यक्त नहीं कर सकती क्योंकि समाज ने इस पर पूर्ण विराम लगा दिया है। उसके बोलने का क्या अभिप्राय होगा यह उसके सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा पहले ही समझा दिया जाता है।

इस प्रकार भाषा उसके लिये बेगानी हो जाती है। वह बोलना चाहती है एवं उसे बोलना आता भी है, उसे यह भी पता है कि क्या बोलना है लेकिन वह बोल नहीं सकती क्योंकि पुरुष चाहता है कि स्त्री धारावाहिक रूप में बोले और जब पुरुष चाहे तब ही बोले और ऐसा बोले कि उसके मुँह से फूल झरें, क्योंकि अंगारे उगलने का काम पुरुष ने अपने हाथ में ले रखा है। पुरुष की आवाज में कठोरता, कर्कशता एवं भारीपन को वरीयता दी जाती है। वस्तुतः पुरुष की भाषा उसकी दबंगई की परिचायक होनी चाहिये।

कुल मिलाकर बोलने की यह समूची आचार संहिता लैंगिक पक्षपात को पूरी तरह स्पष्ट कर देती है। स्त्री के साथ भाषिक स्तर पर किस प्रकार भेदभाव बरता जाता है, इसका भी खुलासा हो जाता है।3

राग दरबारी की भाषा में भी यह लैंगिक पक्षपात जगह-जगह दिखलाई पड़ता है। पात्रों का नामकरण ही इस प्रकार किया गया है कि उनके चरित्र उजागर हो जायें। पुरुष पात्र छोटे पहलवान, बद्री पहलवान, बलराम सिंह, ग्राम प्रधानी के उम्मीदवार, रामनगर में रिपुदमन सिंह और शत्रुघ्न सिंह आदि और स्त्री पात्रों में बेला, मिसेज़ खन्ना, काली कलूटी औरत, मेले वाली गेहुँए रंग की नौजवान लड़की।

बेला का चरित्र बेला फूल के समान नाजुक एवं झुइमुई जैसा है जो खुद कुछ नहीं कहती और उसके पिता गयादीन को वैद्यजी से कहना पड़ता है- "तुम्हारे ये साँड़-क्या नाम है उनका - छोटे रुप्पन, सनीचर फटीचर न जाने मेरी बिटिया के बारे में क्या-क्या बातें उड़ाते रहते है।"

मिसेज़ खन्ना का भी इतना वजूद नहीं है कि उनका नाम बताया जाता। उनके अपने नाम को 'मिसेज खन्ना' ने स्थानान्तरित कर दिया। जाति भी उन्हें पति की मिली और 'मिसेज' के रूप में पति का ताउम्र शाब्दिक साथ भी।

इसके अतिरिक्त उपन्यास में विद्यमान 'मेले वाली लड़की' एवं 'काली कलूटी औरत' को भी कोई नाम नहीं दिया गया है। घटनाएँ सुचारु रूप से बिना इनके अस्तित्व को उजागर किये, आगे बढ़ जाती है। इसी उपन्यास में एक स्थान पर बलराम सिंह ने मूँछों पर ताव देकर कहा "सब शान्ती ही है। यहाँ पचास-पचास शान्ती जाँघ के नीचे पड़ी है।

यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि पुरुष का नाम 'बलराम सिंह' है एवं महिला का नाम 'शान्ती' है। पुरुष का नाम शक्ति, साहस एवं रौब का परिचायक है जबकि स्त्री का नाम सरलता, सहिष्णुता एवं भोलेपन का परिचायक है। इस नामकरण से ही लैंगिक भेदभाव की शुरुआत हो जाती है।

शब्द के स्तर पर-

शब्द-चयन के स्तर पर राग दरबारी में बड़ें पैमाने पर स्त्रियों के प्रति भेदभाव दिखलाई पड़ता है। 'गठरीनुमा बीबी', 'आवरा औरतों', 'गर्भवती आवाज', 'ससुरी ग्राम सेविका', 'कुँवारी लड़की', 'काली-कलूटी औरत', आदि शब्दों में स्त्री के प्रति अपमान ठूँस-ठूँस कर भरा है। इन शब्दों में स्त्री को या तो वस्तु के रूप में अभिव्यक्त किया गया है अथवा उसके चारित्रिक ह्रास को केन्द्र में रखा गया है। स्त्रियों के लिए प्रयुक्त इस शब्दावली से जहाँ एक ओर उनकी कमजोर छवि बनती है, वही दूसरी ओर पुरुष की शब्द-गढ़न प्रतिभा यह बतलाती है कि स्त्रियाँ उसके लिए साधन और सम्भोग सामग्री मात्र है।

पुरुष के लिए प्रयुक्त शब्दों से उसकी सत्ता का बोध होता है, उसका कर्ता भाव सन्तुष्ट होता है। 'मर्द का बच्चा', 'मर्द की बात', 'मर्दाना हिस्सा', 'कभी न चूकने वाला मर्द' आदि शब्द पुरुष के मर्दाने स्वरूप को रेखांकित करते हैं। 'मर्दाना-जनाना' ये दो शब्द वस्तुतः स्त्री-पुरुष के समूचे व्याकरण को प्रतिबिम्बित करते हैं। 'मर्दाना' शब्द ताकत, कठोरता, स्थिरता, प्रतिबद्धता, गम्भीरता एवं गहराई का द्योतक है, जब कि 'जनाना' शब्द कमजोरी, अस्थिरता, उथलापन, खोखलापन के साथ-साथ मादा भाव को जगजाहिर करता है। इन दो शब्दों में भरे गए ये अर्थ क्रमशः पुरुष और स्त्री गुण माने जाते हैं। स्त्रियों के लिए अपशब्दों का प्रयोग भी राग दरबारी में थोक के भाव हुआ है- 'कुतिया', 'राँड़', 'साली', 'रण्डी', 'लौडियाँ', 'रण्डीबाजी', 'छिनाल', 'सड़ियल पतुरिया' आदि।4

यह शाब्दिक अत्याचार पुरुष वर्चस्व को दिखलाता है। ये शब्द स्त्री की चारित्रिक शुचिता को खण्डित करने वाले अर्थ को विज्ञापित करते हैं। पवित्रता को देह की सीमा में बाँधकर वस्तुतः पुरुष ने स्त्री को सीमाबद्ध कर दिया है। रण्डीबाजी एवं छिनाल जैसे शब्द स्त्री से उसके ठेठ रूप में इन्सान होने के खिताब को छीन लेते हैं। उसका आत्मसम्मान इन शब्दों को प्राप्त करते ही समाप्त हो जाता है। वह तुरन्त ही 'व्यक्तिगत सम्पत्ति' से 'सार्वजनिक सम्पत्ति' बन जाती हैं। समाज की पतिव्रता स्त्रियों एवं कुँवारी कन्याओं के लिए ये शब्द भय का उत्पादन करते हैं और अन्तर्निहित भाव में उन्हें अपनी यौनिक इच्छाओं को सीमित, संकुचित एवं सारगर्भित करते हुए पति-परमेश्वर के चरणों में समर्पित करने के लिए बाध्य करते हैं।

'जोरू' शब्द स्त्रियों के लिए समाज में व्यापक रूप से बोला जाता हैं। 'बाँभन की जोरू' में बाँभन की प्रधानता है एवं जोरू की नगण्यता। 'जोरू का गुलाम' शब्द पुरुष के लिए गाली के

समान माना जाता है अर्थात् किसी भी पुरुष को अपनी पत्नी का गुलाम नहीं होना चाहिए, छिपा अर्थ यह है कि गुलाम तो पत्नी को होना चाहिए। 'राँड़' शब्द में विधवा स्त्री के समूचे जीवन के हिमालयी दु:खों को केन्द्रित कर दिया गया है। यह शब्द स्त्री के प्रति संवेदना के स्थान पर दुत्कार भाव को जगाता है। जहाँ भी व्यक्ति के दु:ख को कृत्रिम एवं हल्का साबित करना होता है, वही इस शब्द का मज़े से प्रयोग कर दिया जाता है। राग-दरबारी में कई स्थानों पर इसका प्रयोग किया गया है। जैसे-

- "मैं सोच रहा था कि कौन आफत आ गई जो सड़क पर रिक्शा पकड़कर राँड़ की तरह रोने लगे।"
- "अरे, क्यों राँड जैसा रो रहा है?"

इन सभी वाक्यों में यह भाव समाहित है कि ऐसी कौन सी विपदा आ गई जो राँड़ की तरह रोना पड़ा। अर्थात् बेमतलब में राँड़ की तरह रोने की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार 'बलात्कार' शब्द भी स्त्रियों के साथ दुराचार करने पर प्रयुक्त होता है। इस उपन्यास में इस शब्द का भिन्न सन्दर्भों में प्रयोग करने पर भी प्रकारान्तर से स्त्रियों की कमजोर स्थिति का भाव ही केन्द्र में है। जैसे-

- "इस मैदान के दूसरे कोने पर एक बरगद का पेड़ था जो पूरी वीरानगी पर बलात्कार जैसा कर रहा था।"
- "वहीं एक ट्रक खड़ा था। उसे देखते ही यकीन हो जाता था, इसका जन्म केवल सड़कों के साथ बलात्कार करने के लिए हुआ है।"

यहाँ 'ट्रक' एवं 'बरगद का पेड़' पुरुष भाव को एवं 'सड़के' व 'वीरानगी' स्त्री भाव को द्योतित करती है। शब्दों का भिन्न सन्दर्भों में प्रयोग भी इस प्रकार लैंगिक पक्षपात को अपने में समेटे रहता हैं।

शब्द के अलावा कहीं-कहीं पूरे-पूरे वाक्य ही लैंगिक भेदभाव को व्यक्त करते हैं। जैसे- बद्री ने रिक्शेवाले से कहा- "रिक्शा किनारे करो। सड़क तुम्हारे बाप की नहीं है।"

इस वाक्य से पता चलता है कि समाज में सम्पत्ति बाप की समझी जाती है, माँ की नहीं।

इसीलिए जब सम्पत्ति पर प्रश्न चिह्न लगाया जाता है तो यही कहा जाता है कि - अमुक वस्तु तुम्हारे बाप की नहीं है। यहाँ भी यही कहा गया है कि सड़क तुम्हारे बाप की नहीं है, न कि यह कहा गया है कि सड़क तुम्हारी माँ की नहीं है। क्यों कि यह तो मानकर ही चला जाता है कि ये सारी चीजें या सम्पत्ति बाप की हो होती हैं, माँ की नहीं।

इसी उपन्यास में मोतीराम मास्टर अपनी क्लास के एक लड़के से कहते हैं कि

"तुम उस बेईमान मुन्नू के भतीजे तो नहीं हो?"

यहाँ भतीजे का परिचय उसके चाचा मुन्नू के द्वारा दिया जा रहा है। उसके चाचा मुन्नू मोतीराम मास्टर की निगाह में बेईमान भी है। इतना होने पर भी भतीजे की पहचान चाचा से ही हो रही है। इस लड़के की पहचान इसकी चाची के जरिए भी हो सकती थी किन्तु बेईमान चाचा को प्राथमिकता दी गई। यही समाज की संरचना में अन्तर्निहित भेदभाव है जो इस वाक्य में झलक आया हैं।

एक जगह चोरों से घिरने पर सनीचर से कहा जाता है कि–

'असल बाप की औलाद हो तो चला दे डण्डा।'

यहाँ भी बाप को ही सामाजिक स्वीकृति मिल रही है, माँ को नहीं।

इस प्रकार बच्चे को नौ माह गर्भ में रखने तत्पश्चात उसका लालन–पालन करने के लिए तो माँ जिम्मेदार है, किन्तु जहाँ सामाजिक स्वीकृति या सामाजिक पहचान की बात आती है तो माँ या स्त्री को नेपथ्य में भेजकर पिता या पुरुष को केन्द्रीय भूमिका प्रदान कर दी जाती है। माँ के त्याग, समर्पण, एवं ममत्व की तारीफ तो होती है, किन्तु उसे उसका वाज़िब हक नहीं दिया जाता है। वाक्य के स्तर पर भेदभाव के और भी कई उदाहरण हैं। जैसे–

"बेला एक बदचलन लड़की हैं"।

"कौन है वह?इस विषय पर वह ज्यादा नहीं सोच सका क्योंकि सोचने के रास्ते में दो पहाड़ खड़े हुए थे।"

बदचलन शब्द का प्रयोग सामान्यतः स्त्री के लिए ही होता है। यह छोटा सा वाक्य ही लड़की के चरित्र को कलंकित कर देता है। दूसरे वाक्य में 'उरोज' के लिए पहाड़ शब्द का प्रयोग किया गया है। रंगनाथ की शोध–प्रतिभा इस वाक्य में जिन शब्दों का चुनाव करती है और जिस मंशा को व्यक्त करती है, वह पूरी तरह नारी के प्रति कुदृष्टि की परिचायक है।

वाक्य में शब्द चयन के साथ–साथ उसकी संरचना को भी बारीकी से देखने पर उस वाक्य का दूसरा चेहरा दिखाई देता है। जैसे–गयादीन के बारे में कहा गया यह वाक्य–

"उसके एक जवान लड़की थी, जिसका नाम बेला था, और एक बहिन थी, जो बेवा थी और एक बीबी थी जो मर चुकी थी।"

इसमें गयादीन के परिवार की महिलाओं का बड़ा ही नकारात्मक परिचय दिया गया है। बेला का परिचय जवान लड़की के रूप में, बहिन का 'बेवा' के रूप में एवं बीबी के लिए मर चुकी थी, जैसे शब्द संवेदनशून्यता का परिचय देते हैं। इस एक वाक्य में लड़की, बहिन एवं बीबी के बारे में जो कुछ बतलाया गया है, उससे जिस प्रभावान्विति का निर्माण होता है, वह पूरी तरह नारी विरोधी है।

शब्द और वाक्य ही नहीं अपितु 'प्रोक्ति' के स्तर पर भी कहीं–कहीं इस उपन्यास में

पूरे-पूरे पैराग्राफ में लैंगिक पक्षपात दिखलाई पड़ता है। जैसे कि बेला के बारे में रंगनाथ के ये ख्याल -

"बेला के बारे में उसने बहुत सोचा। इतना सोचा कि हर नाप और वजन के सैकड़ों स्तन और नितम्ब उसके दिमाग में उभरने और अस्त होने लगे। वे जोड़ों में प्रकट हुए, गुच्छों की शक्ल में फूले और एक दूसरे को धक्का देकर भाग गए। रंगनाथ ने बहुत चाहा कि इनमें से एक भरी पूरी लड़की की तस्वीर निकल आए, पर वैसा न हो सका, उसकी कल्पना ने एक बार तो लड़की के पूरे धड़ को पकड़ लिया, पर उससे कुछ न हुआ क्यों कि उसका चेहरा गैरहाज़िर बना रहा। कुछ देर में उसके दिमाग में कुछ छुटे हुए स्तनों के गोल दायरे भर रह गए।"

यह पूरा अनुच्छेद ही वासना में आकण्ठ डूबे रंगनाथ का चित्र प्रस्तुत करता है। वस्तुतः बेला के लिए उसकी स्मृति में केवल कामुकता ही है।

बिम्ब एवं प्रतीक के स्तर पर-

प्रतीकों एवं बिम्बों से भी समाज की अन्तरात्मा की पहचान की जा सकती है। ये प्रतीक एवं बिम्ब सामाजिक सच्चाई को बयान करते है। जैसे-

"वह रिक्शेवाला एक आदमी को, कुछ गठरियों और एक गठरीनुमा बीबी के साथ लादकर धीरे-धीरे चल रहा था।"

यहाँ बीबी का जो बिम्ब बनता है वह गठरीनुमा है अर्थात् उसे वस्तुरूप में तब्दील कर दिया गया है। अन्यत्र-

"औरत ने बकरी की तरह मिमियाते हुए पूछा"

इस वाक्य में औरत के पूछने के अंदाज को बकरी के मिमियाने के समान बताया गया है। यहाँ औरत पर बड़ा ही गहरा कटाक्ष किया गया है। मिमियाना जो बकरी की विशेषता है, उसे औरत से जोड़ दिया गया है।

जब सनीचर प्रिंसिपल से गबन के बारे में कुछ बात कर रहा था, तो वैद्य जी ने उससे कहा कि - "क्या स्त्रियों की भाँति फुस-फुस कर रहा है।"

फुस-फुस करने का जो बिम्ब उभरता है, उससे स्त्रियों की पराधीनता साबित हो जाती है। फुस-फुस कर वही बात करता है, जिसको खुलकर बोलने की आजादी नहीं होती है। पुरुष तो खुलकर ऊँची आवाज में बोलते है, किन्तु स्त्रियाँ धीरे-धीरे एवं फुस-फुस कर बोलती हैं। यह फुस-फुस कर बोलना स्त्रियों के साथ इतनी गहराई से जुड़ गया है कि यदि कभी पुरुष किसी गम्भीर एवं गोपनीय बात को कान में कहता है, तो उसके लिये यही कहा जाता है कि "क्या स्त्रियों की भाँति फुस-फुस कर रहा है।"5

इस प्रकार के बिम्ब न केवल व्यक्तियों के सम्बन्ध में इस उपन्यास में उभरते हैं बल्कि

वस्तुओं के माध्यम से भी इन्हें अभिव्यक्त किया जाता है। जैसे–

"वह मकान का मर्दाना हिस्सा था, जहाँ स्त्रियाँ बहुत कम आती थी।"

मकान के मर्दाने हिस्से का बिम्ब यह बताता है कि मकान का विभाजन 'मर्दाना' एवं 'जनाना' के आधार पर किया जाता है। इसी वाक्य में उल्लेख किया गया है कि मर्दाने हिस्से में औरतें बहुत कम आती थी। एक प्रकार से यह मर्दाना हिस्सा प्रायः महिलाओं के लिये वर्जित स्थान के समान होता है।

खन्ना–मास्टर की भाव भंगिमा को व्यक्त करने वाला यह बिम्ब गहरे स्तर पर नारी को उपहास का केन्द्र एवं भोग–विलासिता के स्रोत के रूप में दिखाता है–

"खन्ना मास्टर, जो अभी तक पालथी मारे बैठे थे, अचानक घुटने मोड़कर और सीना आगे तान कर–जिस्म के उतार–चढ़ाव को दिखाने वाले स्वर्गीय मैरलिन मुनरों के एक विख्यात पोज़ में बैठ गये।"

मुहावरे व लोकोक्ति के स्तर पर–

मुहावरे और लोकोक्ति भी जनसमुदाय के दिलो–दिमाग में बसने वाली ग्रन्थियों को स्वर प्रदान करते हैं। इन्हीं मुहावरों से जनता की अभिरुचियाँ, उनके राग–रंग एवं सपने व्यक्त होते हैं। ये मुहावरे समाज में व्याप्त स्त्री–पुरुष भेदभाव को भी अभिव्यक्त करते हैं। मसलन–

"चौदह–चौदह बच्चे हमने पैदा कर दिए और हमीं को बताते हो कि ये औरत क्या चीज़ है।"

"हम बीस लड़कों के बाप है, हमीं को बताने चले हो कि औरत क्या चीज़ है।"

ये जुमले इस बात के परिचायक है कि पुरुष स्त्री को किस निगाह से देखता है। वस्तुतः औरत पुरुष के लिए प्रजनन केन्द्र मात्र है। औरत क्या चीज हैं इसे समझने के लिए उसके पास बच्चे गिनने के अलावा कोई और मापक यंत्र नहीं है। स्त्री की संवेदना का कोई भी मूल्य उसकी नजर में जगह नहीं बना पाता है। स्त्री को उसने केवल अपनी यौन इच्छाओं की पूर्ति का प्रतीक बना दिया है। समाज में व्याप्त इसी प्रकार की अन्य उक्ति है–

"एक–एक वकील करने में सौ–सौ रण्डियाँ पालने का खर्च होता है।"

यहाँ पर वकील की फीस को बतलाने के लिए और कोई उपाय नहीं सोचा गया और उसे सौ–सौ रण्डियाँ पालने के समान बता दिया गया। सबसे पहले तो 'रण्डी' शब्द ही स्त्री के घोर अपमान का प्रतीक है और फिर 'पालने' से यहाँ यह ध्वनित होता है कि जैसे व्यक्ति जानवरों को पालता है उसी प्रकार इन सौ–सौ रण्डियों को पालने की बात कही जा रही है। यह स्त्रियों को दोयम दर्जा प्रदान करने का षड्यंत्र है। इस प्रकार की बातें फैलाकर स्त्रियों के लिए लैंगिक पक्षपात को स्वाभाविक ढंग से स्वीकार करने की पृष्ठभूमि तैयार की जाती है।

एक बेहद आम मुहावरा है, जो कभी भी समाज में सुनाई दे जाता है और इस उपन्यास में भी स्थान बना लेता है-

"जिसकी दुम उठाकर देखो, वही मादा नजर आता है।"

समाज में नर को पुरुषत्व का एवं मादा को कमजोरी का प्रतीक माना जाता है। मादा को स्त्रीभाव कहकर सारी स्त्रियों को असहाय, पराश्रित एवं दयनीय बना दिया जाता है। मुहावरे में खास भाव यह हे कि यदि कोई पुरुष भी कमजोरी दिखाता है तो भी यही कहा जायेगा कि वह मादा नजर आता है। अर्थात् पुरुष की कमजोरी को व्यक्त करने के लिए 'मादा' के बरक्स कोई शब्द ही नहीं है। यहाँ यह मानकर चला जाता है कि कमजोरी तो औरतों की विशेषता है, पुरुषों की नहीं।

सार यह है कि पहली बात तो पुरुष कमजोरी दिखाएगा ही नहीं और अगर दिखाएगा भी तो बेइज्ज़ती स्त्री की ही होगी क्यों कि तब भी वह (पुरुष) 'मादा नजर आएगा।'

रामाधीन, लंगड़ के बारे में कहते हैं कि "बहादुर आदमी है। समझ लो बैल को दुह कर आया है।" "बैल को दुहकर आना" मुहावरे से तात्पर्य है कि असम्भव कार्य को सम्भव बना देना। यहाँ पर अन्तर्निहित अर्थ यह है कि दुहा तो गाय को जाता है, बैल को नहीं। अतः यदि किसी ने बहुत कठिन लक्ष्य को पा लिया, तो उसने बैल को दुह लिया। ध्यान देने वाली बात यह है कि बैल पुल्लिंग शब्द है एवं गाय स्त्रीलिंग शब्द। सामन्ती मानसिकता में पुरुष बैल के समान बल का प्रतीक माना जाता है एवं स्त्री गाय के समान सीधी-साधी। इस बात की पुष्टि इस उपन्यास में कई स्थलों पर होती है। जैसे-"मर्द की बात एक होती है।"

यहाँ यह मानकर चला जाता है कि मर्द अपनी बात पर अटल, अडिग रहता है, उसकी केवल एक बात होती है। जबकि स्त्री का रवैया ढुलमुल रहता है और उसकी कोई बात नहीं होती है अर्थात् वह अपनी किसी भी बात पर अडिग नहीं रह सकती है।

स्त्री के बारे में एक अन्य कहावत इस उपन्यास में दी गई है- "स्त्री पेट के रास्ते आदमी के हृदय पर कब्जा करती है, उसने पं० राधेलाल के पेट में सुरंग लगा दी और हृदय की ओर बढ़ने लगी।" यहाँ पर स्त्री की जो छवि पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा तैयार की गई है, उसी को और अधिक पुष्ट किया गया है। इस लोकोक्ति में स्त्री के लिए कई अन्तर्निहित अर्थ छिपे हैं। 'स्त्री पेट के रास्ते आदमी के हृदय पर कब्जा करती है', में यह भाव छिपा है कि स्त्री स्वादिष्ट भोजन पकाने में सिद्धहस्त होती है और इसके जरिए वह पुरुष को खुश करके उसके हृदय को जीत लेती है।

यहाँ पर उसकी मानवीय संवेदना, सहिष्णुता, बौद्धिक चेतना एवं ममता को किनारे करके उसके 'स्वादिष्ट भोजन पकाने वाली गृहिणी' रूप को हथियार के रूप में व्यक्त किया गया है। इसी रूप को केन्द्रीय भूमिका प्रदान कर प्रोत्साहित किया गया है और घरेलू कामों तक उसे सीमित करने का प्रयास किया गया है।

भाव-भंगिमा एवं अभिप्राय के स्तर पर-

भाव-भंगिमाएँ भी भाषा का अनिवार्य पहलू है। भाषा का मुख्य काम बात को सम्प्रेषित कर देना है। भाव का सम्प्रेषण जरूरी नहीं है कि बोलकर ही किया जाए। कभी-कभी अंगों के संचालन के माध्यम से भी अभिव्यक्ति की जाती है।

हाथ के संचालन, आँखों की प्रतिक्रिया एवं चेहरे से बहुत कुछ कहा जा सकता है- मुँह से एक भी शब्द कहे बिना। जैसे कि- "जोगनाथ ने जवाब नहीं दिया, क्यों कि वह तब तक भीड़ के रेले में घुसकर नौजवान लड़कियों को धक्का देने में व्यस्त हो गया और उसके चेहरे से लगता था कि वह उस काम में व्यस्त ही रहना चाहता था।"

यहाँ जोगनाथ के चेहरे से जो भाव व्यक्त हो रहा है वह पूरी तरह नारी विरोधी है। जोगनाथ मेले का लाभ उठाकर, जो बदतमीजी कर रहा है, वह उसकी आंगिक प्रतिक्रिया में दिखलाई पड़ रहा है।

अन्यत्र "इन दोनों (रंगनाथ और प्रिंसिपल) को देखकर वे महिलाएँ पाखाने की कार्रवाई को एकदम से स्थगित कर सीधी खड़ी हो गई और उन्हें 'गार्ड ऑफ ऑनर' जैसा देने लगी।"

यहाँ "गार्ड ऑफ ऑनर' की भंगिमा रंगनाथ और प्रिंसिपल के लिए भले ही सम्मानजनक हो किन्तु इसमें स्त्रियों का अपमान ही परिलक्षित होता है।

कभी-कभी निगाहों से भी लैंगिक पक्षपात आकार ले लेता है। जैसे- "अदालत ने गयादीन को, सन्देहपूर्वक, जिस तरह बीस साल की लड़की के बाप को देखना चाहिए, तीखी निगाह से देखा।"

इसमें समाज की कई सच्चाईयाँ छिपी हुई है। पहली सच्चाई यह है कि बीस साल की लड़की के बाप को विशेष निगाह से देखना चाहिए और वह विशेष निगाह 'तीखी निगाह' होती है। कहना न होगा कि यहाँ लड़की के बाप को शक की निगाह से देखा जा रहा है, जैसे कि उसकी लड़की ने बीस साल की जवान लड़की होकर स्वाभाविक रूप से आपराधिक उम्र हासिल कर ली है और अब वह किसी न किसी अपराध को जरूर अंजाम देगी। इस 'तीखी निगाह' में लड़की के चरित्र को शक के घेरे में ले लिया गया है। इस पूरे घटनाक्रम की सबसे खास बात यह है कि "तीखी निगाह" अदालत की है अर्थात् न्यायपालिका तक स्त्री को लैंगिक पक्षपात का शिकार बनाती है। समानता दिलाने का दावा करने वाले जज भी उसी पुंसवादी मानसिकता के उद्घोषक नजर आते हैं।

कभी-कभी शब्द को अर्थ से नहीं 'अभिप्राय' के माध्यम से ही समझा जा सकता है। इसी 'अभिप्राय' में लैंगिक भेदभाव भी छिपा रहता है। जैसे -

"पर महिला के सक्रिय विरोध के कारण वे कुछ नहीं कर पाए और वह अपना शील

समूचा-का-समूचा लिए सीधे थाने तक आ गई।"

इस उदाहरण में 'समूचा का समूचा शील' शब्द का प्रयोग, शील के खण्डित स्वरूप एवं समग्र स्वरूप में भेद कर इन दोनों के बारे में सोचने को विवश करता है।

प्रिंसिपल साहब के बाद खन्ना मास्टर की नीयत इस तरह साफ हो जाती है-

"खन्ना मास्टर की अलमारी में 'साधना' नाम की फिल्म ऐक्ट्रैस की एक मढ़ी हुई तस्वीर मौजूद थी जिसमें वह बहुत थोड़े कपड़े पहने हुए, विलायती अभिनेत्रियों के पास जो है, वह मेरे पास भी है, जैसी बात का ऐलान सा करती हुई बड़े हिम्मतवर तरीके से खड़ी थी।"

प्रिंसिपल साहब और खन्ना मास्टर के बाद इनके स्कूल के लड़कों की मनोदशा इस पत्रिका में झलक आती है-

प्रिंसिपल ने कक्षा के औचक निरीक्षण में पाया, "यह सिनेमा का साहित्य था। पन्ना खोलकर उन्होंने हवा में घुमाया। लड़कों ने देखा 'किसी विलायती औरत के उरोज तस्वीर में फड़फड़ा रहे हैं।"

अन्यत्र भी इन लड़कों की मानसिकता-निर्माण की पद्धति दिखलाई पड़ती है-

"उधर लड़कों ने मादा का जिक्र आते ही गुलशन नन्दा के उपन्यासों को पढ़ना बन्द कर दिया। वे कवर के ऊपर बनी औरत की तस्वीर ध्यानपूर्वक देखने और इन लोगों की बातें दिलचस्पी से सुनने लगे।"

यह तमाम विज्ञापन एवं लोगों की भाव-भंगिमाएँ उस मानसिक कुंठा को उजागर करती है जो स्त्री को सदैव भोग्या के रूप में ही देखना चाहता है। पुरुषों के मानसिक गठन की सामग्री के रूप में भी उन उदाहरणों को देखा जा सकता है।

इस प्रकार राग-दरबारी की भाषा का विश्लेषण करके हम देखते हैं कि किस प्रकार भाषा को लैंगिक पक्षपात के एक हथियार के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह लैंगिक पक्षपात शब्द, बिम्ब व प्रतीक के साथ-साथ जनमानस में व्याप्त मुहावरों व लोकोक्ति के स्तर पर भी स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। भाव-भंगिमा एवं अभिप्राय सच्चाई के सच्चे दर्पण हैं। कहना न होगा कि इस स्तर पर भी भेदभाव खुलकर प्रकट हुआ है।

भाषा हमारे भावों और विचारों को अभिव्यक्त करती है, इसीलिए हमारे भावों व विचारों में आई विसंगतियाँ भाषा में मुखरित हो जाती हैं। इसी विसंगतिपूर्ण भाषा का विश्लेषण करके हम जान पाते हैं कि समाज में स्त्री-पुरुष की क्या स्थिति है। राग दरबारी की भाषा का अध्ययन करने पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाज में स्त्री प्राथमिक नहीं द्वितीयक है। उसकी स्वतंत्रता, अस्मिता एवं अनुभूति का कोई मूल्य नहीं है। वह पुरुष की सहगामिनी नहीं बल्कि अनुगामिनी बनने को अभिशप्त है, और इस तथ्य के प्रामाणिक सबूत हमें राग दरबारी की भाषा देती है।

1. "Dele spender's book Man made language (1985) offers an intriguing thesis, that "like other forms of culture, men have controlled language and as a result one can see more positive words for males with a lot more opportunities to use them." - Man made language – Dele Spender, Encyclopedia.com. 15 Nov. 2010

2. "यह एक स्वीकृत तथ्य है कि लिंग के अनुसार भाषिक व्यवहार में परिवर्तन होता है। होम्स ने पाँच समाज-भाषावैज्ञानिक सार्वभौमिक प्रवृत्तियों को प्रस्तुत किया है: स्त्री पुरुष भाषा-प्रयोग के भिन्न रूपों को अपनाते हैं, स्त्री अक्सर अन्तर्विनिमयता के प्रभावी प्रकार्य पर बल देने वाले भाषिक साधनों का प्रयोग करती है अन्तर्विनिमयता में स्त्री एकात्मकता पर और पुरुष अपनी ताकत और प्रतिष्ठा को बनाए रखने पर बल देते हैं शैली की दृष्टि से स्त्री की भाषा में अधिक लचीलापन होता है।" - भाषा, साहित्य और संस्कृति-विमलेश कांति वर्मा, मालती (सं.) ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 20099, दिल्ली, पृ०39

3. "Men's typically louder voices, less frequent uses of minimal responses and greater use of obscenities can be seen as means of manipulation and dominating conversations". - Tom Mcarthur 'Gender bias', concise Oxford companion to the english languages 1998. Encyclopedia.com. 4 Dec. 2010

4. "स्त्री-पुरुष की भाषा में अंतर होता है, कुछ अंतर भिन्न समाजीकरण प्रक्रिया और पालन-पोषण के तौर तरीको के कारण ही मिलते हैं। सामन्यत: पुरुष की भाषा नार्म के रूप में मान्य होती है जिसके आधार पर स्त्री द्वारा प्रयुक्त भाषा रूपों का अध्ययन विश्लेषण किया जाता है।" - भाषा साहित्य और संस्कृतिक: विमलेश कांति वर्मा, मालती (सं.) ओरियंट लैक स्वॉन, 2009, नई दिल्ली, पृ० 39

5. "हमारे परिवारों में पुरुष सूर्य की तरह है, उनका प्रकाश उनका अपना होता है, क्योंकि वह संसाधनों के मालिक हैं, उनके पास आय है, घूमने-फिरने और अपने निर्णय निर्णय लेने की आजादी है। महिलायें उपग्रहों की तरह है जिनके पास अपना कोई प्रकाश नहीं होता। वह केवल तभी प्रकाशित होती हैं, जब सूर्य की रोशनी उन तक पहुँचती है।" - नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे - साधना आर्य, निवोदिता मेनन, जिनी लोकनीता हिन्दी माध्यम क्रियान्वयन निदेशालय, 2006, दिल्ली, पृ० 5

रचनाकार खालसा कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, में एसोसिएट प्रोफेसर हैं।

# 'बिरले दोस्त कबीर के' 'सामाजिक और अध्यात्म का पूर्ण चक्र'

**डॉ. आशा मेहता**

**पुस्तक** – बिरले दोस्त कबीर के
**लेखक** – कैलाश नारायण तिवारी
**प्रकाशक**– नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली

'कबीर' हिन्दी जगत का एक ऐसा नाम है जिससे हिन्दी का ककहरा पढ़ने से लेकर विद्वत जगत तक सभी लोग प्रभावित हुए हैं। यहाँ तक कि केवल हिन्दी समझने (जो हिन्दी पढ़ और लिख नहीं सकते) वाले को भी कबीर के 'दोहों' का साधिकार उच्चारण उसे हिन्दी–ज्ञान से जोड़ देता है। कबीर के जीवन और व्यक्तित्व की इन्हीं खूबियों में एक नाम डॉ. कैलाश नाराण तिवारी का 'बिरले दोस्त कबीर के' रूप में सामने आया है। अपने सम्पूर्ण कलेवर में यह 'भक्ति' के विभिन्न रूपों का 'दर्शन' अपने पाठकों को कराता है। भक्ति के विभिन्न आयामों को दिखाता हुआ यह उपन्यास वर्तमान में व्याप्त अनेक समस्याओं का निरूपण है। कबीर का बचपन, युवावस्था, उनकी वैचारिकता, परिस्थितियाँ, आज का युग, वर्तमान की समस्याएँ सभी मिलकर इस उपन्यास का ताना–बाना बुनती हैं। स्वयं 'लेखक' ने भी यह स्वीकार किया है कि कबीर को समझने के लिए यह कबीर के युग की परिस्थितियों और मन:स्थितियों का विश्लेषणात्मक प्रयास है। आज के युग में भी

मध्यकालीन युग की समस्याएँ थोड़े बहुत फेरबदल के साथ मौजूद हैं। इन्हीं परिस्थितियों और मन:स्थितियों का (काल्पनिक) पात्रें के साथ कबीर का (लेखकीय) वार्तालाप इस उपन्यास का कथ्य बनकर पाठक के सम्मुख आता है। पूरे उपन्यास के इस कथानक को छब्बीस विषयों के साथ विभक्त किया गया है और विषयवस्तु में अतीत और वर्तमान के काल बोध विस्तार को एक नया रूपाकार और आयाम देने का प्रयास किया गया है।

यहाँ यह बताना भी अप्रांसगिक नहीं होगा कि कबीर पर लिखे गए अब तक के सम्पूर्ण साहित्य में कबीर की तरह 'कुछ कुछ होना' (और फिर भी भारी भरकम अन्वेषक का दावा न कर पाने की सहज स्वीकारोक्ति) ही इस उपन्यास का वर्ण्य विषय बनी है और यही वर्णनात्मकता (वर्तमान और अतीत के मेल से उपजी हुई) ही इस उपन्यास को एक नया आयाम प्रदान करती है। भाषिक दृष्टि से भी और शिल्प की दृष्टि से भी।

लेखक ने 'धर्म' से जुड़ी समस्याओं को हर वर्ग के साथ अत्यन्त बेबाकी से उठाया है। कबीर के स्वयं के धर्म (हिन्दू या मुसलमान) के बारे में निर्णय न होने के कारण लेखक ने अपनी कलम को 'निर्भीकता' की सत्ता दी है और समस्या की जड़ का अत्यन्त दृढ़ता से सहज निरूपण किया है- चाहे वो अछूतोद्धार की बात हो, पंडितों मुल्लाओं की बात हो, ढोंगीपन की बात हो, और यहाँ तक कि पति-पत्नी के रोजमर्रा के जीवन में आने वाले प्रसंगों को भी लेखक ने अत्यन्त सटीक वैचारिक बोध के साथ उठाया है।

पुस्तक में तीन आयाम एक साथ चलते हैं। एक कबीर पर की गई प्रखर आलोचकीय टिप्पणियाँ, दूसरा कबीर का युग और तीसरा स्वयं लेखक की अपनी कल्पनाशीलता और कबीर की सत्यप्रिय कठोर वाणी की उलटबासियों से भरी हुई कलम की स्वायत्तता। ये तीनों आयाम पुस्तक के शिल्प को शास्त्रीयता की सीमा से अलग ले जाकर एक नया रूपाकार प्रदान करते हैं। आप एक ही स्थान पर कबीर की वाणी (जिसे लेखक ने अधिकांश 'भजन' कहा है) पढ़ते हैं, तत्कालीन परिस्थितियों का लेखा जोखा पढ़ते हैं और लेखकीय वक्तव्य भी पढ़ते हैं। यदि पाठक में तीन विभिन्न दृष्टिकोणों को (अलग-अलग होते हुए भी अंतत: एक में जुड़ जाने की क्षमता) एक ही समय में पढ़ने को और कालबोध की सीमितता-असीमितता को भेद जाने की क्षमता हो तो इस उपन्यास का रसास्वादन पाठक को भी हो सकता है। अपनी शैली में 'कबीर की वाणी', 'भोजपुरी' और 'वर्तमान हिन्दी' तीनों रूपों को साथ लेकर चलने वाली इस उपन्यास की भाषा इसे बँधे बँधाए क्लासिक रूप से न जोड़कर एक नए 'तेवर' के साथ अपने पाठकों से रूबरू होती है।

कबीर माँ नीमा से भोजपुरी में बात करते हैं और उनके पद तो ज्यों के त्यों रख दिए गए हैं और उनकी आलोचना 'आज की हिन्दी' है। कबीर के पदों (भजनों) का इतना मौलिक प्रयोग

उपन्यास में किया गया है कि कहीं भी लेखक ने उसकी व्याख्या नहीं की है बल्कि उस पूरे पद को अपनी नई औपन्यासिक शैली का एक अटूट हिस्सा बनाकर उपन्यास की भाषा को और अधिक वानगी प्रदान की है।

जब जब भी उपन्यास में 'नीमा' अपने 'पुत्र' कबीर के 'भजन' सुनती है तो उसका जो उन भजनों में रम जाना है, उसका भाव-विभोर होना है वह कहीं भी उन भजनों की 'समझ' से नहीं जुड़ा है क्योंकि कहाँ नीमा उस आध्यात्मिक गहराई को समझेगी जिसे कबीर ने निरन्तर अपनी आत्मा में रमण करके पाता है। लेकिन नीमा का भजन में डूबना, आँसू बहाना, सभी कुछ भूलकर सो जाना, कबीर से प्रश्नोत्तर करना ये समस्त विवरण उपन्यास को अर्थ गाम्भीर्य की ओर ले जाते हैं जिसे कभी भी व्याख्यात्मक रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था- 'माँ होने का अधिकार जताते हुए वह बोली- 'ए बचवा! तोहार कउनो बात समझ में ना आवत हौ। हम त बस तोहार भजन सुनी ल्या। अऊर ओही में रमी ल्या। अब तू छोड़ मनसवा क बात। कउनो मीठा भजन होय त ओके सुनाव। तनी हमहूँ सुन के तर जाईं। शायद तोर भजनवैं सुनले से हमरो नैया पार जाय।'' (पृ. 136-137)

**कबीर के अध्यात्म पक्ष की चर्चा के बिना इस उपन्यास का मर्म समझना अत्यन्त कठिन है। अनेक स्थलों पर कबीर को लेखक ने उनकी आध्यात्मिक शक्ति के आधार पर विश्लेषित किया है जो सामाजिकता और आध्यात्मिकता जैसे दो अलग माने जाने वाले बिन्दुओं की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। स्वयं लेखक ने अपने एक साक्षात्कार में इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है- ''हमने इस उपन्यास में दोनों को बराबर रूप में देखने का प्रयास किया है।**

उपन्यास में स्त्री के रूप में केवल माँ के ही आद्यन्त रूप की चर्चा नहीं है बल्कि 'मनसादेव' जैसे पात्र के माध्यम से कवि ने स्त्री जीवन के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया है। आज जबकि पूरे विश्व में स्त्री-उत्थान के विभिन्न पहलुओं का बारीकी से विश्लेषण किया जा रहा है वहीं इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्त्री का शोषण आज भी हमारे समाज पर एक बदनुमा दाग की तरह कायम है। मनसा देव से माध्यम के लेखक ने एक ढोंगी तांत्रिक की

मानसिकता को उजागर किया है- ''सच तो यह था कि वह कभी भी भोग, वासनाओं से मुक्त नहीं हो सका था, तांत्रिक क्रियाओं के चक्कर में वह लोक तो बिगाड़ ही चुका था, परलोक भी उसके हाथ से निकल गया था।..... जिससे उसकी संगत बिगड़ गयी। अब तो वह मादक पदार्थों का सेवन भी करने लगा था।'' (पृ. 139-140) लेखक ने केवल मनसादेव के माध्यम से स्त्री समाज के शोषक का प्रकरण उजागर नहीं किया बल्कि एक स्थान पर तो उन्होंने अत्यन्त बेबाकी से अपने पिता के बारे में भी कहा है- ''जिस दिन से मेरे पिता और पूरा समाज असली धर्म-कर्म और स्त्रियों की पीड़ा को समझना शुरू कर देगा.....।'' लेकिन यह वक्तव्य पूरे समाज पर चाहे लागू हो न केवल एक स्वप्नचित्र बनकर रह जाए, परन्तु 'पिता' पर यह वाक्य एक निर्मम प्रहार करता है- बिल्कुल कबीर की सोच के अनुकूल और उन्हीं के जीवन से मेल खाता हुआ। लेखक ने आरम्भ में ही कबीर के जीवन में आई स्त्रियों की गणना करते हुए अत्यन्त नपा-तुला वक्तव्य दिया है- कबीर के जीवन में उन्हें सर्वाधिक प्रभावित करने वाली खास तौर पर तीन औरतें थीं। पहली औरत 'माया थी जिसे जगत माता भी कह सकते हैं। दूसरी औरत 'नीमा' थी और तीसरी 'लोई'। 'नीमा' कबीर के मस्तिष्क में छाई रहती थी। तो 'लोई' हृदय के किसी कोने में रहती थी। और माया हर जगह विराजमान थी। (पृ. 21)।

कबीर के अध्यात्म पक्ष की चर्चा के बिना इस उपन्यास का मर्म समझना अत्यन्त कठिन है। अनेक स्थलों पर कबीर को लेखक ने उनकी आध्यात्मिक शक्ति के आधार पर विश्लेषित किया है जो सामाजिकता और आध्यात्मिकता जैसे दो अलग माने जाने वाले बिन्दुओं की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। स्वयं लेखक ने अपने एक साक्षात्कार में इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है- ''हमने इस उपन्यास में दोनों को बराबर रूप में देखने का प्रयास किया है। बल्कि मैंने यह दिखाने की कोशिश की है कि सामाजिक विकृतियों पर चोट करने का जो साहस और उस साहस के पीछे जो शक्ति है वो आध्यात्मिक ही है।'' (समसामयिक सृजन पत्रिका) जनवरी-जून 2015, पृ. 23 अध्यात्मक और सामाजिकता को एक दूसरे का पूरक मानना एक साहसिक कार्य है जो कबीर के सम्बन्ध में हमारी पूर्व अवधारणाओं को एक पूर्ण चक्र प्रदान करता है। कबीर को 'समझने' का यह दृष्टिकोण उपन्यास के वर्तमान रूप को और अधिक तर्कसंगत बनाता है।

असिस्टेंट प्रोफेसर हिंदी विभाग, लेडी श्रीराम कॉलेज, लाजपत नगर,
नई दिल्ली 110024
फोन न0 8860993419

# चुप्पी

डॉ. सारिका कालरा

**ये चांद जो ठीक हमारे सिरों के उपर है न, वह धीरे-धीरे हमारी आंखों के आगे आएगा और फिर देखते-देखते डूब जाएगा और उसके बाद सुबह हो जाएगी- उसने अपनी पतली लंबी उंगलियां अपने प्रेमी की सख्त हथेली में फसांते हुए कहा था। समुद्र के किनारे ठंडी रेत में बैठा एक जोड़ा इस तरह प्रेम में डूबा चांद-सितारों की बातें कर रहा था।**

वह शाम को ऑफिस से आकर कपड़े बदलकर चुपचाप सोफे पर बैठी पत्नी के बगल में बैठ गया था। सुबह की बौखलाई पत्नी बिल्कुल शांत बैठी थी। सुबह गुस्से में पत्नी ने जब उसके मुंह पर फटाक से दरवाजा बंद किया था, वह हिल गया था। शाम को जब वह ऑफिस से घर आएगा तो क्या होगा इसकी कल्पना से ही वह सिहर गया था। दिन भर उसकी उंगलियां पत्नी के नंबर तक जाती और रूक जातीं। निपट लेगा शाम को आखिर पहली बार तो ऐसा नहीं हो रहा है उसके साथ। छह सालों की शादीशुदा जिंदगी में कितने ही दिन उसके ऐसे ही बीते हैं। आदत है पत्नी की, बच्चे की बात पर ऐसे ही लड़ने लगती है, बौखला कर चीखने लगती है और दो-तीन दिन में खुद ही शांत हो जाती है। जिंदगी फिर पटरी पर लौटने लगती है।

पर!!!!!

आज पाँचवां दिन है। पत्नी उससे बिना बोले यंत्रवत् घर के सारे काम निपटा रही है। खाना भी टाइम पर टेबल पर रख जाती है।

अनमने होकर दो-चार कौर खाती है फिर उठ जाती है। वह उसे छेड़ना नहीं चाहता, कुछ पूछना नहीं चाहता, डरता है। कुछ पूछेगा तो लड़ने न लगे। इस बार गुस्सा कुछ ज्यादा ही बढ़ गया लगता है। वह बेचैन रहने लगा। वह चाहता था कि वह लड़े, उस पर गुस्सा करे, दरवाजे, खिड़कियों को जोर से बंद करे, किचन में बर्तनों को जोर से पटके। पर नहीं सब कुछ शांत था। पत्नी की ऐसी खामोशी उसे अंदर से हिला रही थी।

सुबह ऑफिस के लिए निकला तो पत्नी ने दरवाजा बंद किया। उसने सोचा कि पटक कर दरवाजा बंद करे पर पत्नी ने ऐसा नहीं किया। वह आज अपना फोन भूल गया था। वापिस लौटकर आया तो दरवाजे के नजदीक आकर ठिठक गया। पत्नी की सुबकती हुई आवाज सुनकर वहीं खड़ा रहा। पत्नी कह रही थी-''माँ। अब कुछ नहीं हो सकता। डॉक्टर ने कह दिया है कि तुम अब कभी माँ नहीं बन सकती। सारे इलाज बेकार गए माँ।'' फोन के दूसरी तरु से माँ शायद अपनी बेटी को ढांढस बंधा रही थी और वह सोच रहा था कि दरवाजा खटखटा कर पत्नी से फोन वापिस ले या आज बिना फोन के ही ऑफिस चला जाए।

## चाँद की अठखेलियां

ये चांद जो ठीक हमारे सिरों के उपर है न, वह धीरे-धीरे हमारी आंखों के आगे आएगा और फिर देखते-देखते डूब जाएगा और उसके बाद सुबह हो जाएगी- उसने अपनी पतली लंबी उंगलियां अपने प्रेमी की सख्त हथेली में फसांते हुए कहा था। समुद्र के किनारे ठंडी रेत में बैठा एक जोड़ा इस तरह प्रेम में डूबा चांद-सितारों की बातें कर रहा था।

हम्म। प्रेमी ने धीरे से कहा और उसके बालों में अपनी उंगलियां फिराने लगा।

'तापस। तुम ऐसे ही मुझे प्यार करते रहोगे न उम्र भर? शादी के बाद ये प्यार कम तो नहीं होगा न।' -उसने उसकी आँखों में झांककर कहा था। प्रेमी ने उसकी पलकों को चूमते हुए इस वादे को उम्र भर निभाने की सहमति दी थी।

आज प्रेमिका की गोद में चांद उतर आया था। वह उसे कभी खिलौना समझ, कभी अपना दोस्त समझ उसके संग खेलने लगी थी। अपने प्रेमी को आज पूरी रात रोककर वह उसे भी चांद के खेल में शामिल कर लेना चाहती थी। प्रेमी ने भी इन्कार नहीं किया था। दोनों ही इस खेल में बहुत देर तक डूबे रहे। कुछ समय बाद प्रेमी उठ गया था। प्रेमिका की आँखों में सवाल थे। प्रेमी की आँखों में जवाब नहीं थे। वे जवाब आस-पास भी नहीं थे। वह उन सवालों भरी आँखों से घबरा कर अपना फोन देखने लगा था। प्रेमिका की आँखों से बचने के लिए वह एक मैसेज को दो-तीन बार पढ़ गया था। मैसेज उसके पिताजी का था। उस पर एक पता लिखा था और पते के बाद लिखा

था- हम लड़की देख चुके हैं, हमें पसंद है, तुम भी दिए गए पते पर जाकर लड़की पसंद कर आओ, जल्द से जल्द।

## उसका रास्ता

आज कॉलेज में उसका पहला दिन था। वह कॉलेज के माहौल को परख रहा था। कॉलेज में किसी के मिलने पर उसे क्या कहना है, इसकी तैयारी उसने अच्छे से कर ली थी। लड़कों की टाइट स्किन फिटिंग, डेनिम की जींस देखकर उसका हाथ अनायास अपनी पैंट की तरु चला जाता। दिन भर वह एक कमरे से दूसरे कमरे में अपनी क्लासेज लेता रहा। सभी उसी की तरह नए थे, पर उसे हैरानी इस बात की थी कि सभी चेहरे आत्मविश्वास से भरे हुए थे वही एक अपने घबराए हुए चेहरे के कारण नए होने का अहसास सबको करा रहा था। किसके साथ दोस्ती का हाथ बढ़ाए किससे दूरी बना कर रखे इस बात को लेकर वह असमंजस में था। एक क्लास में बैठे हुए सौम्य से दो हंसमुख चेहरों को देखकर उसने भी मुस्कुराने की कोशिश की पर वह चेहरे उसे देखकर बुझ-से गए। वह झेंप गया और क्लासरूम में सर के आने पर चुपचाप लेक्चर सुनने लगा। कॉलेज खत्म होने के बाद वह क्लास से निकल कर जाने लगा तो एक लड़के ने उसका रास्ता रोककर पूछा - नए लगते हो? दोस्ती हुई किसी से?

उसने इन्कार में सिर हिला दिया।

'चलो कोई बात नहीं। धीरे-धीरे हो जाएगी। आज मेरे साथ चलो। वह देखो हमारा ग्रुप। आज कॉलेज का पहला दिन है। सब मूवी देखने जा रहे हैं। तीन से छः का शो है।'

'पर..... मेरे पास इतने पैसे नहीं हैं। और मुझे घर भी जल्दी पहुंचना है। माँ परेशान हो जाएगी। कॉलेज का पहला दिन है न।' कहकर वह जल्दी-जल्दी उस लड़के का जवाब सुने बिना ही वहाँ से निकल गया। बस स्टैंड पर आकर उसने राहत की सांस ली। बस में उसने टिकट लेने के लिए पैसे निकाले तो कंडक्टर बोला--'हजार का छुट्टा नहीं है मेरे पास। कहाँ तक जाना है?

'जी मानसरोवर बॉयज हॉस्टल।' उसने कहा।

सपना मांगलिक

सपना मांगलिक, शिक्षा – एम.ए., बी.एड., डिप्लोमा, एक्सपोर्ट मैनेजमेंट प्रकाशन : पापा कब आओगे, नौकी बहू कहानी संग्रह, सफलता रास्तों से मंज़िल तक, ढाई आखर प्रेम का प्रेरक गद्य संग्रह, कमसिन बाला, कल क्या होगा, बगावत काव्य संग्रह, टिमटिम तारे, प्रसारण : आकाशवाणी एवं दूरदर्शन पर निरंतर रचनाओं का प्रसारण।

# माँ भारती हम सब की माता

यही है माता यही विधाता
हम सब इसकी संतान हैं
छाती ठोक गर्व से बोलें
मेरा भारत महान है
यही भाव रहे सीने अपने
हो एक पल भी न कम
लगा भाल पे इसकी माटी
कहें बन्दे मातरम
बन्दे मातरम, बन्दे मातरम
फिर कहलाये सोने की चिड़िया
हो कायम यहाँ चौन और अमन
कर्ज उतारें मिट्टी का इसकी
सौ सौ बार इसे करें नमन
लगा भाल पे इसकी माटी
कहें बन्दे मातरम
बन्दे मातरम, बन्दे मातरम
सुख समृद्धि का लगायें नारा
तन मन भी चाहे जाए वारा
करें वन्दना चरणों में माँ की
चलो खायें माँ की कसम
लगा भाल पर इसकी माटी

कहें बन्दे मातरम
बन्दे मातरम्, बन्दे मातरम
आंचल में समेटे माँ अपने बच्चे
हैं चार धाम धरम चारों ही अच्छे
देश की खातिर मर मिट जाएँ
अब अपना यही जतन
लगा भाल पर इसकी मिटटी
कहें बन्दे मातरम
बन्दे मातरम्, बन्दे मातरम
दुश्मन जिन्दा नहीं जाने देंगे
आंच न इसपर आने देंगे
इसकी जय जयकार से गूंजें
ये धरती और वो गगन
लगा भाल पर इसकी माटी
कहें बन्दे मातरम
बन्दे मातरम, बन्दे मातरम
न घर है न ही  परिवार हमारा
पंद्रह अगस्त त्यौहार है प्यारा
है संकल्प यही अब अपना
यही अपना एक धरम
लगा भाल पर इसकी माटी
कहें बन्दे मातरम
बन्दे मातरम्, बन्दे मातरम
खड़े सीमा पर जितने भी जवान
कोई हिन्दू है न है मुसलमान
आँख उठा देखे कोई माँ को
लहू हो जाता इनका गरम
लगा भाल पर इसकी माटी
कहें बन्दे मातरम
बन्दे मातरम्, बन्दे मातरम

## ऐसा जतन करो

दिक् दिगंत तक कीर्ति-गंधा से सुरभित पवन करो
महक उठे जननी का आँचल ऐसे रंग भरो
झिलमिल-झिलमिल उड़े गगन में माँ का आँचल धानी
लिखो समय के वक्षस्थल पर ऐसी अमिट कहानी
धरती की छाती पर रंग केसरिया शोर्य का लहराए
ऐसी हो हरित क्रांति जो श्रम के गीत सुनाये
चलता रहे चक्र उन्नति का ऐसे जतन करो
महक उठे जननी का आँचल ऐसे रंग भरो
रंग स्वेत, स्वेत क्रांति का बहे दूध की धारा
स्वेत चंद्रमा सा चरित्र हो, दमके जीवन सारा
मिटे कालिमा मानव मन से, स्निग्धा स्नेह इसमें भर दो
मरुस्थल से सूने जीवन को, नीर प्रेम से तर दो
नील गगन में श्याम मेघ बन, झर-झर नित झरो
महक उठे जननी का आँचल ऐसे रंग भरो
देश धर्म् हित शोर्य दिखावे, प्रतिदिन वर्दी खाकी
मिटे आंतरिक दवेष भावना, रहे ना कटुता बाकी
जन-जन के मस्तक पर दमके, देश प्रेम की लाली
गंगा यमुना सरयू गाये, गाथा गौरवशाली
सुरभित करने को जग कानन बन गुलाब बिखरो
महक उठे जननी का आंचल ऐसे रंग भरो
ओ मानस के चतुर चितेरे ऐसे चित्र बनादे
कभी ना छूटे दाग प्रीत का, ऐसा रंग लगादे
मस्तक पर गौरव का कुमकुम, हाथों मेहंदी श्रम की
देश प्रेम में हो सरोबार, टूटे चूड़ियाँ भ्रम की
सत्य धर्म की उड़े पताका कटुता दूर करो
महक उठे जननी का आँचल ऐसे रंग भरो

पता–एफ– 659, बिजलीघर के निकट, कमला नगर आगरा–282005 (UP)
दूरभाष–09548509508, व्हाट्स अप्प – 07895813848
e-mail : sapna8manglik@gmail-com

रिपोर्ट

नई दिल्ली, 2 दिसम्बर

# 'साहित्य रचने की प्रेरणा मुझे गाँव से मिलती है'

मैत्रेयी पुष्पा

'नई धारा' का उदयराज सिंह स्मारक व्याख्यान एवं साहित्यकार सम्मान समारोह।

गाँव की संस्कृति, भाषा, बोली-बानी, आपसी संबंधों में प्रेम की ताजगी सबकी सब मुझे बचपन से ही मोहित करती रही है। सच तो यह है कि मुझे साहित्य रचने की प्रेरणा एवं शक्ति ही गाँव से मिलती है, इसलिए मैं गाँव पर ही लिखती हूँ।

ये कहना है प्रसिद्ध लेखिका एवं दिल्ली हिन्दी अकादमी की उपाध्यक्ष मैत्रेयी पुष्पा का। वे आज चर्चित साहित्यिक पत्रिका 'नई धारा' द्वारा केन्द्रीय साहित्य आकदेमी के सभागार में आयोजित द्वादश 'उदयराज सिंह स्मारक व्याख्यान' में बतौर मुख्य वक्ता बोल रही थीं। व्याख्यान का विषय था- 'मैं गाँव पर ही क्यों लिखती हूँ।' समारोह की अध्यक्षता चर्चित कवि एवं भारतीय ज्ञानपीठ के निदेशक लीलाधर मंडलोई ने की, जबकि संचालन 'नई धारा' के संपादक डॉ. शिवनारायण ने किया।

लेखिका मैत्रेयी पुष्पा ने कहा कि भारत के गाँव बदल रहे हैं। फोर लेन सड़कें और डिजिटल क्रांति ने विकास की चकाचौंध संस्कृति के जरिये गाँवों की पारम्परिकता को तहस-नहस कर दिया है, फिर भी वहाँ के रिश्तों में शेष रहे अपनेपन की भावना मुझे अपनी ओर खींचती है। उन्होंने कहा कि कथित विकास के तमाम कोलाहल के बीच गाँव के इस अपनेपन को बचाने और उसे विकसित करने की आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि 'नई धारा' की साहित्यिक पत्रकारिता

में अब भी अच्छी रचना के चयन और उसे सम्मानित करने की उदात्त दृष्टि है, जो इस पत्रिका के पूर्वजों की चाह रही।

इस अवसर पर 'नई धारा' की ओर से मैत्रेयी पुष्पा को 'उदयराज सिंह स्मृति सम्मान' से विभूषित करते हुए उन्हें 1 लाख रूपये सहित सम्मान पत्र, प्रतीक चिह्न, अंगवस्त्र आदि अर्पित किया गया। 'नई धारा' के प्रधान संपादक डॉ. प्रमथराज सिंह ने लेखक-पत्रकारा विश्वनाथ सचदेव (मुंबई), चर्चित गजलगो अनिरूद्ध सिन्हा (मुंगेर) तथा कथा लेखिका रीता सिन्हा (वर्द्धमान) को 'नई धारा रचना सम्मान से नवाजते हुए उन्हें 25-25 हजार रूपये सहित सम्मान पत्र, प्रतीक चिह्न, अंगवस्त्र आदि अर्पित किए।

आरंभ में स्वागत भाषण करते हुए 'नई धारा' के प्रधान संपादक डॉ. प्रमथराज सिंह ने कहा कि 'नई धारा' हमारे लिए केवल एक साहित्यिक पत्रिका भर नहीं, बल्कि एक रचनात्मक अभियान है, जहाँ साहित्यकारों के सम्मान से हम समय, समाजा और साहित्य को एक सकारात्मक दिशा देना चाहते हैं। वही 'नई धारा' की विरासत और परम्परा है।

हिन्दी के चर्चित कवि और भारतीय ज्ञानपीठ के निदेशक लीलाधर मंडलोई ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि 'नई धारा' का सतत प्रकाशन हिन्दी में साहित्यिक पत्रकारिता का स्वर्णिम विरासत है, जिस पर गर्व किया जा सकता है। अपने समय के अच्छे साहित्य और रचनाकार को सम्मानित करना भी एक संस्कृतिकर्म है, जिससे समाज में रचनात्मक संदेश जाता है। उन्होंने 'नई धारा' की पुस्तक योजना की प्रशंसा करते हुए सम्मानित लेखकों को बधाई दी।

सम्मानित लेखकों में मुंबई से आए वरिष्ठ लेखक-पत्रकार विश्वनाथ सचदेव ने कहा कि पत्रकारिता कर्म मेरे लिए देश-समाज की सेवा का व्रत है, जिसका निर्वाह मैं राग-द्वेष से मुक्त रहकर करता रहा हूँ। 'नई धारा' जैसी ऐतिहासिक महत्त्व की पत्रिका ने मेरा सम्मान किया, तो लगा मेरी सेवा का व्रत सार्थक हुआ। चर्चित गजलगो अनिरूद्ध सिन्हा (मुंगेर) ने इस अवसर पर कहा कि 'नई धारा' ने मेरा नहीं, गजल विधा का सम्मान किया है, जिसके लिए मैं सभी गलजकारों की ओर से 'नई धारा' का शुक्रिया अदा करता हूँ। इस अवसर पर उन्होंने तरन्नुम में एक गजल भी सुनाई। सुप्रतिष्ठ कथा लेखिका डॉ. रीता सिन्हा ने कहा कि आचार्य शिवपूजन सहाय राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी, उदयराज सिंह जैसे साहित्यकारों के तेज से सिंचित 'नई धारा' पत्रिका का सम्मान पूरे विश्व के हिन्दी समाज में है, जिसका एक हिस्सा मैं भी हूँ, इसलिए 'नई धारा' का सम्मान पाकर मैं गौरवान्वित हुई।

'नई धारा' के संपादक डॉ. शिवनारायण ने इस अवसर पर कहा कि किसी लेखक के जीवन की सार्थकता उसकी ..... उपलब्धियों में नहीं, बल्कि उसके समाज सापेक्ष संघर्ष में है। इसलिए उसे अपने सामाजिक सरोकारों को अधिक से अधिक सार्थक ..... की दिशा में सक्रिय रहना चाहिए। उन्होंने कहा कि बीते 67 वर्षों से लगातार प्रकाशित हो रही 'नई धारा' बिहार के सूर्यपुरा राज ..... की पांच पीढ़ियों की हिन्दी सेवा का व्रत है, जिसे राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, शिवपूजन सहाय, रामवृक्ष बेनीपुरी जैसे ..... लेखकों ने पल्लवित-पुष्पित किया।

यह मेरा सौभाग्य है कि मैं बीते 25 वर्षों से इसका संपादन कर रहा हूँ।

समारोह में अनेक शहरों से आए लेखकों समेत दिल्ली के सैकड़ों साहित्यकार उपस्थित थे। समारोह के अंत में कथाकार ..... ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

---

# लहरी राम मीणा को मिला 'कादम्बरी सम्मान'

**यह सम्मान रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. कपिदेव मिश्र, कुलगुरु राजशेखर सृजन पीठ के अध्यक्ष आचार्य कृष्णकान्त चतुर्वेदी, आचार्य भगवंत दुबे, डॉ. गार्गी शरण मिश्र 'मराल', साध्वी विभानंद जी, आचार्य कृष्णकांत चतुर्वेदी के कर कमलों द्वारा उनकी कृति 'साहित्य का रंगचिंतन' को विया गया।**

साहित्यिक एवं संस्कृति की प्रख्यात संस्था कादम्बरी का सम्मान समारोह 26 अक्टूबर, 2016 को जबलपुर (मध्य प्रदेश) में सम्पन्न हुआ। यह सम्मान रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. कपिदेव मिश्र, कुलगुरु राजशेखर सृजन पीठ के अध्यक्ष आचार्य कृष्णकान्त चतुर्वेदी, आचार्य भगवंत दुबे, डॉ. गार्गी शरण मिश्र 'मराल', साध्वी विभानंद जी, आचार्य कृष्णकांत चतुर्वेदी के कर कमलों द्वारा उनकी कृति 'साहित्य का रंगचिंतन' को दिया गया। मीणा को प्रशस्ति-पत्र, स्मृति-चिन्ह, शॉल ओढ़ाकर एवं 21,000/- रुपये की राशि देकर सम्मानित किया गया। सम्मान उत्सव में डॉ. सुन्दरलाल कथूरिया, डॉ. गंगाप्रसाद गुप्त 'बरसैया', डॉ. उषा दुबे प्राचार्य, डॉ. भरतमिश्र 'प्राची' आदि ने अपने उद्‌गार व्यक्त किए। इससे पूर्व इनकी 'भारतेंदु : एक नई दृष्टि' नाम से प्रसिद्ध रचना प्रकाशित हुई। 'पाथेय हिन्दी सेवा सम्मान', संस्कार सारथी सम्मान एवं कथा भूषण सम्मान भी मिल चुके हैं। इन दिनों यह दयाल सिंह (सांध्य) कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में सहायक प्राध्यापक के पद पर कार्यरत हैं। इस अवसर पर सभागार में देश के कोने-कोने से आये लेखक, कवि, कवयित्रियाँ एवं विद्वतजन उपस्थित थे।

---

✧ ✧ ✧

महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने हिन्दी साहित्य के गद्य–पद्य विधाओं की श्रीवृद्धि में जो योगदान दिया वह अवर्णित है। छायावाद से लेकर प्रगतिवाद तक निराला की कविताओं से जगमगा रही है। उन्होंने कविता के अलावे उपन्यास, कहानी, समीक्षा, आदि में लेखनी चलाने के साथ–साथ पत्र–पत्रिकाओं के सफल संपादन में योगदान किया। तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, राम की शक्तिपुजा तथा सरोज स्मृति जैसे अक्षय कृतियों को हिन्दी जगत् को सौंप कर महाप्राण कवि निराला 15 अक्टूबर 1916 को स्मृति शेष हो गए। अक्टूबर माह में उनकी उनकी पुण्य तिथि के अवसर पर जानकीवल्लभ शास्त्री कृत 'निराला की कविता' शीर्षक आलेख 'दस्तावेज' स्तंभ के अंतर्गत प्रकाशित कर रहे हैं, जो कि अवंतिका के अगस्त, 1954 वाले अंक में प्रकाशित हुई थी।

# निराला की कविता

जानकीवल्लभ शास्त्री

**आलोचकों को शिकायत है कि अणिमा में निराला का मौसम सम पर है; प्रतिभा का फेनोज्जवल ज्वार उतार पर है- वह रैदास और आचार्य रामचंद्र शुक्ल के प्रति भी प्रणत हो उठे हैं। सचमुच ही बिजली की कड़क और बादलों की तड़क-भड़क से क्वाँर की मादनी चाँदनी में नहाए आकाश की छवि और होती है; धुएँ के भभाकों में खोई लपटों से दहकते शृंगारे दूसरी तरह के होते हैं।**

'परिमल' में कसाव के साथ-साथ खुलाव भी था। हर रंग के डोरे उसके ताने-बाने में थे, फिर भी 'चदरिया' भीनी-भीनी बीनी गई थी। और 'गीतिका' में रंग उभरा-गहराया, बुनाई घनी-गाढ़ी, फिर भी जैसे ढाके का साठ गज मलमल कि क्वाँरी लुनाई छिपाए न छिपे। 'अनामिका' में परिमल और गीतिका के वस्तु-विस्तार तथा रचना कौशल का मिश्र गीतिका के वस्तु-विस्तार तथा रचना कौशल का मिश्र विकास दिखता है। 'तुलसीदास' 'राम की शक्तिपूजा' से बहुत पहले रचित होकर भी बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ, अतः 'अनामिका' की महाकाव्य-सी गहन कतिपय कविताओं में ही उसकी शैली और जीवन के आवेग की छिटफुट छाप देखी जानी चाहिए।

इस प्रकार निराला की कविता की सुनहली तरुनाई 'परिमल' से तुलसीदास' तक रूप-रस-गंध की पर्तों पर पर्तें बिछाती गई।

'अणिमा' में पहली बार उसे वह आवरण उतारते देखा गया, परिमल के वनफूलों के शृंगार को पतझड़ के अल्हड़ झोके की तरह तोड़कर गीतिका-गायन काल से ही जिसे ससंभ्रम धारण कर रखा था। 'परिमल' यदि निराला का एकमात्र धरातल होता तो 'अणिमा' उसी की प्राकृतिकता कहलाती।

अणिमा के गीत उज्जवल जल-भरे बादल से इकहरे कजरारे हैं। ऐसे कि किसी जलपरी की छिंगुनी से छू जाने पर भी अनास्वादित रस बरस पड़े। व्यावहारिक घरेलूपन लिए चार बरस की बिटिया की, आँसुओं से डलबल-आँखों सी सरल-सजल भाषा; स्वर सौंदर्य से अतिशय श्रुति-मधुर गीत 'अणिमा' की वहिरङ्ग विशेषता है। इसमें 'तुमसे चल तुममें ही पहुँचे, जितने रस आनंद रहें' ऐसी उपलब्धि है; तुम्हें सुनाने को मैंने भी नहीं कही कम गाने गाए'। जैसी तृप्त तृप्ति है। 'जानता हूँ, नदी-झरने, जो मुझे थे पार करने, पर चुका हूँ, हँस रहा यह देख कोई नहीं भेला' की भाँति अखंड आत्म-विश्वास है; 'द्रुम-दल शोभी फुल्ल नयन ये, जीवन के मधु-गंध चयन ये' के समान स्वस्थ-संतुलित शृंगार है; 'हरे तन-मन प्रीति-पावन, मधुर हो मुख मनोभावन, सहज चितवन पर तरंगित ही तुम्हारी किरण तरुणा' के तुल्य आर्द्र करुणा है और 'दूर हो अभिमान संशय, वर्ण-आश्रम-गत महाभय, जातिजीवन हो निरामय वह अदाशयता प्रखर दे' ऐसी जातीय सदाशयता है।

आलोचकों को शिकायत है कि अणिमा में निराला का मौसम सम पर है; प्रतिभा का फेनोज्जवल ज्वार उतार पर है- वह रैदास और आचार्य रामचंद्र शुक्ल के प्रति भी प्रणत हो उठे हैं। सचमुच ही बिजली की कड़क और बादलों की तड़क-भड़क से क्वाँर की मादनी चाँदनी में नहाए आकाश की छवि और होती है; धुएँ के भभाकों में खोई लपटों से दहकते शृंगारे दूसरी तरह के होते हैं। आमूल मुकुलिता माधवी की बेल से पदतल पर बिछे फूलोंवाले हरसिंगार के झाड में अंतर होता है। सचमुच ही 'अणिमा' से निराला की कविता नए मोड़ लेती है।

नए मोड़ लेती है- 'जैसे युगांत' से पंत की कविता इसमें अतीत का सिंहावलोकन है, वर्तमान की धुंध और भविष्य का प्रकाश भी। अपनी आवृत्ति भी निराला ने नहीं की, अतः युग-संधि के रंध्र से छनकर आनेवाली किरणों को सँजो सकने की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी है। यहाँ कविता को नई भाषा, नई शैली मिली है।

चूँकि यहाँ दाना है
इसीलिए दीन है, दीवाना है।
लोण है, महफिल है,
नग्मे हैं, साज है, दिलदार है और दिल है,
शम्मा है, परवाना है,
चुँकि यहाँ दाना है।

प्रकृति-चित्रण में ऐसा यथार्थ-

भरा हुआ तालाब,

खेलती हैं मछलियाँ

पानी की सतह पर

पूँछ पटकती हुई।

जलाशय के किनारे कुहरी थी,

हरे, नीले पत्तों का घेरा था;

पानी पर आम की डाल आई हुई;

गहरी अँधेरे का डेरा था।

निराला की कविता में ही नहीं, हिंदी कविता में पहली बार प्राप्त हुआ। आगे चलकर ग्राम्या में पंत ने 'वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार' लिखा, पर यह निरलंकारता, अपने में अप्रतिम रही। यों तो कब न निराला ने नए-नए बीज बोए, पर परती पड़ी जमीन के गोड़ते, खाद देते जाने के सबब अब पौधे उग-उगकर लहराने को मचलने लगे थे। देव-दुर्लभ मानवता रक्त-मज्जावाले आदमी की सूरत में ढल चली थी; हृदय के अमृत में आँसू, पसीने और खून की सर्दी-गर्मी भी घुलने लगी थी। और निराला ने 'कुकुरमुत्ता', 'वेला' और 'नए पत्ते-' में धरातल बदल दिया। नई जिंदगी के पाँव के नीचे की जमीन टटोलते और अपनी नई कविता के लिए नए प्रतीक और प्रतिमान गढ़ते हुए निराला ने यह गुर पा लिया था-

स्वार्थ के अवगुंठनों से हुआ है लुंठन हमारा।

जमींदार की बनी, महाजन धनी हुए हैं;

जग के मूर्त पिशाच - धूर्तगण गनी हुए हैं।

खुला भेद, विजयी कहाए हुए जो,

लहू दूसरे का पिए जा रहे हैं!

हर सैरगाह में आदमी के खून के फव्वारे आकाश गंगा संगम के लिए जैसे अविच्छिन्न ऊर्ध्वमुख हो रहे थे; धुँधलका रक्ताक्त धरती का काले रंग का बुर्का हो रहा था, जिसके भीतर के करुण-कातर नयन मटमैली बूँदें उगल रहे थे और निराला नई कविता सिरज रहे थे-

विशेषता के गले नीच की छुरी जो चली

गुलाब जैसा खिला रक्तिमाभ शान हुई

सफाई कट गई है चाँद की भी

जूही के उसने जो जोबन टटोले
गई पत देवता-पति की, कि उसने
प्रिया मीरा को विष के घूँट घोले।
जमाने की रफ्तार में कैसा तूफाँ
मरे जा रहे हैं, जिए जा रहे हैं।
जिन्होंने ठोकरें खाईं गरीबी में पड़े उनके हाजारों
हाजारों हाथ के उठते समर देखे।
गगन की ताकतें सोईं, जहाँ की हसरतें रोई
निकलते प्राण बुलबुल के बगीचे में अगर देखे।

निराला की विविध वृत्तियों का मोटे तौर पर वर्गीकरण करना हो तो पहले हम उन्हें दो वर्गों में बाँट लें- आत्मनिष्ठ वृत्तियाँ और समाज-निष्ठ वृत्तियाँ। उनकी काव्य-साधना में यह द्विविधता प्रारंभ से ही प्राप्त होती है। परिमल की दीन, भिक्षुक, विधवा, बादल आदि कविताएँ जैसी हैं वैसी गीतिका में भी है; अनामिका, तुलसीदास और अणिमा में भी। इसी प्रकार 'वेला' और नए पत्ते' में भी उनकी रहस्यवादी प्रवृत्ति नहीं छूटी है। यह रहस्य-दर्शन और समाज-चेतना कवि के एक ही उत्स की दो धाराएँ हैं वह उत्स है मानवता से अपार प्यार। वह मानवता के उन्नयन के लिए ही भूमि और आकाश - दोनों का सहारा लेता है यह सौच ह कि 1916 से 40 तक की रचनाओं में आत्मनिष्ठ वृत्तियों की प्रमुखता रही है और 40 से अबतक की रचनाओं में सामाजिक प्रवृत्तियों की। किंतु उन्होंने पंचवर्षीय अथवा पंत्रसूत्रीय योजना बनाकर ऐसी विभक्त वृत्तियाँ कदापि व्यक्त नहीं की हैं। यह उनकी सहज वृत्ति-व्यक्ति है। युद्ध की पृष्ठभूमि में कहा जाय तो यह कहना होगा कि प्रथम महायुद्ध ने उन्हें दार्शनिक दृष्टि दी थी और द्वितीय ने सामाजिक दृष्टिकोण। यह अंतर्विरोध नहीं, वृत्ति-समुच्चय है। मानवता को केंद्रित कर जड़-चेतन वादों का कंठाश्लेष है।

पराजय और पलायन के चिन्ह निराला में नहीं है, इसका कारण उनका अपने ऊपर अखंड विश्वास, फिर जनता की शक्तियों पर अटूट आस्था हैं।

परिस्थितियों से घबराकर भागो नहीं, उनका डटकर (शरीर और आत्मा दोनों से) मुकाबला करो, निराला की कविता में यह भाव सर्वत्र व्याप्त है-

खींचे वगैर नभ से झरता नहीं शिशिर-कण
तेल, आँच जब न खाया निकला कब आँवले से
आँख से आँख मिलाओ, उनका डर छोड़ो।
राह पर बैठे, उन्हें आबाद तू जबतक न कर

चैन मत ले, गैर को बरबाद तू जबतक न कर ।

'पास हीरे हीरे की खान' आदि दार्शनिक गीत भी ऐसे ही है। इसी प्रकार वर्तमान वैज्ञानिक युग का युद्ध चित्र प्रस्तुत करते हुए निराला ने जहाँ भौतिवाद के अमंगल स्वरूप पर प्रकाश डाला है वहाँ भी उनका दृष्टिकोण प्रतिक्रियावादी नहीं है अन्यथा रोक रहजन को प्रगति का, फेर से, बाधक जो है, दरबदर भटका उसे, मर्याद तू जबतक न कर' वह क्यों लिखते? इसलिए यहाँ श्री निश्वंभरनाथ उपाध्याय के शब्दों को दुहराना आवश्यक है, इनसे आपातत: परस्पर-विरोधी प्रतीत होने वाले निराला के अनेक स्तरों का सामंजस्य संकेतित होता है - 'निरालाजी पर विवेकानंदजी द्वारा लिए वेदांत के उपनिषद् आधार का प्रभाव अधिक है, शंकर का कम, क्योंकि उनका ज्ञान ज्ञान के लिए उतना नहीं है जितना समाज के लिए है; शंकर में निरपेक्षतावाद अधिक है जबकि निराला में ज्ञान की सापेक्षता अधिक पाई जाती है। शाश्वत ब्रह्म-आत्मा की अनुभूति अस्थिर मायामय जगत् के विरुद्ध नहीं पड़ती है और जब मानवता की मुक्ति का अंतर्नाद कवि में प्रबल हो जाता है तो वह अपने सबसे बड़े प्रलोभन अपवर्ग और अधिवास को भी छोड़ने के लिए प्रस्तुत हो जाता है।, यद्यपि उसका विश्वास यही है कि मनुष्य का चरम लक्ष्य नदी के समान उसी चेतना-सागर में मिल जाना है ताकि पुन: इन बंधनों में न पड़ना पड़े।

आज सम्भता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर
स्पष्ट दिख रहा, सुख के लिए खिलौने-जैसे
बने हुए वैज्ञानिक साधन, केवल पैसे
आज लक्ष्य में मानव के, जल, स्थल, अंबर
रेल-तार-बिजली, जहाज, नभयानों में भर
दर्प कर रहे है मानव, वर्ग से वर्ग-गए,
भिड़े राष्ट्र से राष्ट्र स्थार्थ से स्वार्थ विचक्षणा।

अणिमा : भगवान बुद्ध के प्रति

अर्थात् कवि जन्म-मरण के बंधनों से मिलनेवाली मुक्ति को टाल सकता है; किंतु जन-जीवन की विषमता, पीड़ा, दु:ख, दीनता को सहन नहीं कर सकता ।

इसीलिए निराला अद्वैतवादी भी है, द्वैतवादी भी; भक्त भी और ज्ञानी भी; पुनरुथानवादी भी और क्रांति कारी भी, लौह-प्रहार तथा ललकार भी और आत्म-पर मात्म-मिलन की मधुर झंकार भी। वह वैयक्तिक अनुभूतियों के स्वर्ग में विचरनेवाला मुक्त विहग भी है और पतनोन्मुख रूढ़िप्रिय संस्कृति की विहग-बालिका के लिए भयंकर बाज भी; उसमें लौकिक प्रेम की ललक

भी है और आध्यात्मिक भूमि पर अनुभूत आत्मपुलक भी; निराला विरोधों का स्वयं सामंजस्य और आमंजस्यों का विरोध है। अत: अंतर्विरोधों को देखकर जो समझते है कि निराला किसी एक विचार -दर्शन का कवि नहीं-एक निश्चित विचार-सरणि का स्रष्टा नहीं, वे सोचने से इन्कार करते है।'

काल-क्रम से 'कुकुरमुत्ता' का प्रकाशन 'अणिमा' से पहले हुआ था। आजतक की निराला की काव्य-साधना को यदि दो भागों में विभक्त करें तो 'जुही की कली' से प्रथम भाग का प्रारंभ माना जायगा और 'कुकुरमुत्ता' से द्वितीय भाग का। इस समय तक भाषा और भाव के क्षेत्र में विश्व-साहित्य में नई-नई उत्क्रान्तियाँ होने लगी थीं, प्रबुद्ध निराला का काव्य भला कैसे अछूता रह जाता? प्राचीन संस्कारों की दीवारें ढहकर 'कुकुरमुत्ता' में समतल बन गई है। वेला और नए पत्ते में कवि का जो जनवादी रूप प्रकट हुआ है, उसे आँकने के लिए 'कुकुरमुत्ता' को परिपाटी की पाटी धो-पोंछकर साफ करनी पड़ी है। 'कुकुरमुत्ता' असंस्कृत सामान्य का प्रतीक है जो अपने चारों ओर के स्वाभाविक प्राकृत वातावरण से बल लेकर विकास को प्राप्त होता है। कुकुरमुत्ते की कलम नहीं लगाई जाती, वह उगाया नही जाता। इसी तरह सामान्य मानवता स्वत: विकसित चीज हैं वह नकद है, उधार नहीं।

'कुकुरमुत्ता को निरालाजी ने दीन-हीन-शोषित जनता का प्रतीक माना है और गुलाब को शोषक अभिजातवर्ग का। इस रूपक मे परंपरागत भाषा, संगीत, उपमाएँ, शब्दचित्र आदि सब विलीन हो गए हैं और एक नई कला का जन्म हुआ हैं यक कला कुकुरमुत्ता के ही समान बंजर धरती की उपज है, उसमें रूप, गंध, रस आदि की कमी है, वह भावों की सुकुमारता में नहीं गुदगुदाती, पाठकों को सोचने के लिए विवश करती है। 'कुकुरमुत्ता' के समान ही उसकी एक सामाजिक उपादेयता है।

'कुकुरमुत्ता' के व्यंग्य के व्याख्याकारों में ऐकमत्य नहीं है। एक विविधता मैंने भी जोड़ दी है। मैंने 'मित्र के प्रति' कविता का ही दूसरा रूप 'कुकुरमुत्ता' को बताया है। तदनुसार 'कुकुरमुत्ता' आधुनिक हिंदी की, एक ऐतिहासिक (मूल्य रखनेवाली) कविता है।

'वेला' के आधे गीत गीतिका की शैली और कोटि के है। अवश्य इनमें गीतिका का रस नहीं हैं रहस्यानुभूति अधिक दुरूह हो गई है। जिसका अर्थ यह है कि कवि की मानसिक ग्रंथयाँ क्रमश: जटिल होती गई हैं; किन्तु शेष आधे गीतों (गजलों) में, इसके विपरीत, प्रांजलता अधिक है जब भी ये नई गढ़न की चीजें है- व्यंगों की चुभन, अभिव्यक्तियों का नुकीलापन, अलग-अलग बहरों की गजलों में मुहावरेदार भाषा का प्रयोग, सब कुछ नवीनता लिए हुए।

वेला में परिमार्जना दिखती है, कुकुरमुत्ता का अन गढ़पन यहाँ नहीं। निराला के सफलतम गीतों में से कुछेक -

रूप की धारा के उस पार कभी धंसने भी दोगे मुझे?

कैसे गाते हो? मेरे प्राणों में आते हो, जाते हो!

हँसी के तार के होते हैं ये बहार के दिन।

'वेला' की ही देन हैं। ऐसे ही सन् 42 की जनता की कुंठाओं का चित्रण कजली और लोकगीतों की तर्ज से अत्याधिक प्रभावोत्पादक हुआ है। वस्तु-विस्तार के साथ नई शैली की स्वस्थ चित्ररेखा 'वेला' में मिलती है। यह कहना तो पिष्टपेशण ही होगा कि नई कविता के लिए नई राह निकाले बिना निराला का कोई काव्य-संग्रह नहीं निकला फिर यह 'वेला' तो युग-संधि वेला की प्रतिनिधि रचना है।

'नऐ पत्ते' में कुकुरमुत्ता' के 42 वाले संस्करण की सारी रचनाएँ आ गई हैं, जिनमें 'खजोहरा', रानी और कानी', 'मास्को डायलाग्स' आदि रचनाएँ उत्कृष्ट व्यंग्य-विनोद के लिए सुप्रसिद्ध है। 'देवी सरस्वती' संग्रह की एक विशिष्ट कला-कृति है। 'कैलास में शरत्' अवचेतन मन की अद्‌भुत देन है। 'स्फटिक-शिला' अपने 'चरम बिंदु' के लिए चर्चा में आई है, किंतु भावना की उठान और आकस्मिक मोड़ के कारण वह रस और मनोविज्ञान की द्वंद्वात्मक भूमि पर खड़ी अकेली कला-कृति है। शेष रचनाएँ जनवादी काव्य का प्रतिनिधित्व करती हैं।

अध्यात्मवाद और समाजवाद के समन्वय की दिशा में 'अर्चना' निराला का नूतन अभियान है। यहाँ व्यक्ति और अभिव्यक्ति, आदर्श और यथार्थ, वस्तु और रहस्य का सहज मिलन हुआ है। पारिभाषिक शब्दों के साँचे में ढला हुआ मिलन नहीं, पुस्तकीय ज्ञान के मकड़ी-जाल से ढँका हुआ मिलन नहीं, मानवता के विराट और व्यापक विकासा के क्रम में जीवनानुभूतियों का बंधु-भाव से मिलन। ऐसा लहर का लहर से संबंध-बंधन अनुभूतिप्रवण जीवन की अगाधता का निदर्शन है।

एक महाकाव्य को नाना चरित्रों के माध्यम से महाकवि अपनी भावना-तरंगों का चेतना-समुद्र बनाता है। शताब्दियों की परंपरा से पाठक वैसे समस्त भावावेगों का एकायन करता आ रहा है। मूर्त्त पात्रों का माध्यम वहाँ एक बार भी अंतर्विरोध की शंका नहीं उत्पन्न करता। क्योंकि शंका से भी पहले वहाँ समाधान मिलता आ रहा है। इलियड और आडेसी, रामायण और महाभारत सबमें अनुस्यूति है, तारतम्य है, केवल निराला के गीतों में परिमल से अर्चना तक के स्वरों के संगीतात्मक आरोह अवरोह की संगति समझ में नहीं आती; इसका कारण गीति कवि के पात्रस्थानीय बहुविध भावों से परंपरित परिचय का अभाव नहीं तो और क्या हो सकता है?

व्यष्टि निराला लघु-लघु गीतों की समष्टि नहीं, जीवन की संपूर्णता की अनुभूति के रस-भावों से भरा महाभारत सा महाकाव्य है।

---

साहित्यिक सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

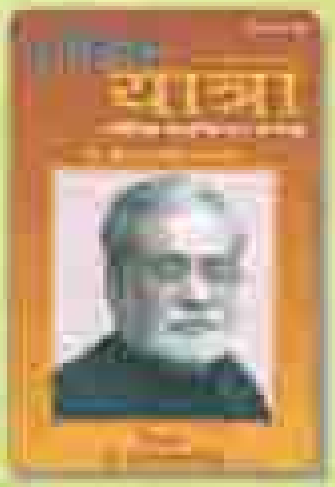

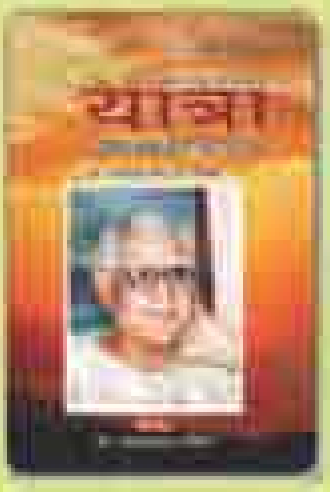


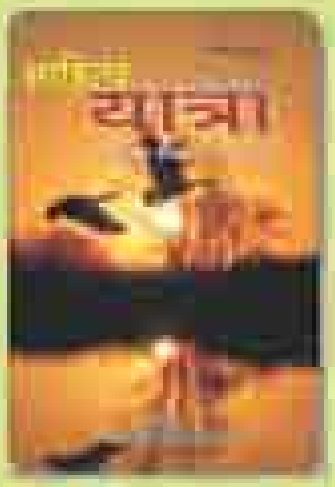

RNI No. BIHHIN05272
ISSN 2349 - 1906

बच्चों की बरसात!

पीएनबी
मॉनसून
बोनान्ज़ा

जल्दी करें!
ऑफर सीमित अवधि
के लिए

पंजाब नैशनल बैंक
punjab national bank